ISSN : 2321-3922
जनवरी – 2017
BIHHIN05394
वर्ष – 2 अंक–7

सुसंभाव्य

हिंदी त्रैमासिक

www.susambhavya.com

सृजन एवं समीक्षा के लिए प्रतिबद्ध पत्रिका

सुसंभाव्य

(सृजन एवं समीक्षा के लिए प्रतिबद्ध पत्रिका)

जनवरी–2017

संस्थापक–सह–प्रधान संपादक
श्री दयानन्द जायसवाल

संयोजक
डॉ. विजय कुमार सिंह

संरक्षक
श्रीमती प्रतिभा सिन्हा

सम्पादक
डॉ. गिरिजा शंकर मोदी
डॉ. अश्विनी
प्रवीण कुमार

संस्थापक सदस्य
डॉ. राम किशोर शर्मा
श्री उमाकान्त भारती
श्रीमती संयुक्ता गुप्ता

विशिष्ट सदस्य
श्री अजय कुमार सिंह
श्री सत्यदेवेश प्रसाद
श्री शिवनन्दन प्रसाद सिंह
श्रीमती छाया पाण्डेय

स्वत्वाधिकारी व प्रकाशक : श्री दयानन्द जायसवाल
संपादन, संचालन, प्रबंधन एवं समस्त
व्यवस्था अवैतनिक एवं अव्यावसायिक ।
रचनाओं के लिए रचनाकार स्वयं उत्तरदायी।
समस्त विवादों का न्याय क्षेत्र
भागलपुर।

ISSN - 2321-3922
TITLE CODE : BIHHIN05394
वर्ष–2, अंक–7

नव वर्ष की हार्दिक शुभकामनाएँ

सम्पर्क : श्री दयानन्द जायसवाल
मौर्या जुबिली प्लेस, जीरोमाईल
भागलपुर–813210 (बिहार)
मो० : 09931240303, 8210079809
वेबसाईट : www.sambhavya.net
www.susambhavya.com
ई–मेल : dnj.sambhavya@gmail.com

ISSN - 2321-3922
TITLE CODE : BIHHIN05394
वर्ष–2, अंक–7

सुसंभाव्य

हिंदी त्रैमासिक

वेबसाईट : www.susambhavya.com

आमंत्रण

'सुसंभाव्य' अंतराष्ट्रीय स्तर की पूर्णत: नि:शुल्क हिंदी त्रैमासिक है। वर्तमान समय में विश्व के 39 देशों के पाठक सहित भारत के 89 शहरों के सहृदयों का स्नेह इस पत्रिका को प्राप्त है।

इसका ई–संस्करण विश्वग्राम के सभी सुधी पाठकों एवं स्नेहीजन के लिए www.susambhavya.com पर सहजता के साथ सुलभ है। मुद्रित संस्करण यथासंभव रचनाकारों, हिंदी के लिए समर्पित संस्था और संस्थानों को उपलब्ध कराया जाता है।

श्रेष्ठ चिंतन को सहज–सरल अभिव्यक्ति के माध्यम से जब कोई व्यक्ति सार्वभौम होकर जन–गण में व्याप्त हो जाता है तब वह व्यक्ति से व्यक्तित्व और व्यक्तित्व से संस्थान बन जाता है। ऐसे महान विभूतियों से आग्रह है कि जुलाई–2017 अंक में प्रकाशन हेतु अपनी मौलिक, नवीनतम एवं प्रतिनिधि रनचाएं अपने पत्राचार–पता के साथ मेल, कोरियार या डाक से सम्पर्क पते पर भेजें।

आइये सब मिलकर सामाजिक सरोकार से संबंधित सार्वभौम, सार्वजनीन एवं श्रेष्ठ साहित्य के माध्यम से धर्म–मज़हब, जाति, लिंग, वर्ण, वर्ग और नस्ल–भेद की दीवार हँटा दें और सिर्फ इंसान बनें तथा उत्तम ज्ञान एवं श्रेष्ठ आचरण से स्वयं का परिष्कार कर विश्वग्राम का सौभाग्य बनें।

रचनाएं भेजें :–

E-mail : dnj.sambhavya@gmail.com
dnj.susambhavya@gmail.com

संपादक
सुसंभाव्य हिन्दी त्रैमासिक

सुसंभाव्य

जनवरी–2017

ISSN - 2321-3922
TITLE CODE : BIHHIN05394

अनुक्रम

1.	पुरोवाक्	संस्थापक की कलम से	दयानन्द जायसवाल	05
2.	आलेख	भाषा की जीवन्तता और उभरते ख़तरे	डॉ0 अमर सिंह वधान,	06
3.	कविता	औरत/दुनियादार आदमी	रविशंकर सिंह, ज्योत्स्ना अस्थाना	08
4.	संस्मरण	बख्शीजी : कल और आज	डॉ. नलिनी किशोर श्रीवास्तव	09
5.	लघुकथा	जाँच का अन्त	दयानन्द	10
6.	आलेख	हिन्दी : सदियों से राज–काज में	शैलेन्द्र अस्थाना	11
7.	आलेख	राष्ट्रीय एकता का प्रतीक : राजभाषा हिन्दी	डॉ. मो. मिज़ाद मियाँ	12
8.	कविता	मन /अमृत की आस /देख बेटी/आँख की तरह है मेरी माँ	–– निवेदिता चतुर्वेदी, डॉ. भावना शुक्ल, अशोक बाबू माहौर, श्याम अचल	13
9.	आलेख	नागार्जुन की राजनीतिक दृष्टि	डॉ. सुमन	14
10.	लघुशोध	मीरा की विरहानुभूति	डॉ. संजय बी. आसोदरिया	15
11.	कविता	आपको सुन रहा था/तुम्हें बदलता रहा हूँ /रंगा सियार,टोला के पाहुन	कल्पना मिश्रा बाजपेइ, हरेन्द्र कुशवाह 'कन्नौजी', सूर्यप्रकाश मिश्र	16
12.	समीक्षा	फांस: संजीव	डॉ. एन.आर.श्याम	17
13.	समीक्षा	मतान्तर के फलक पर ध्रुवान्तर के प्रकटीकरण का प्रयास	डॉ. अनुज प्रभात	19
14.	समीक्षा	समकालीन स्पन्दन का सौंदर्य/आदमी से डर	डॉ. वीरेन्द्र आस्तिक, संयुक्ता गुप्ता	20
15.	समीक्षा	नई सोच के साथ आदमी की तलाश	डॉ. अनिरुद्ध सिन्हा	21
16.	गीत	रोदन करती आज दिशाएँ	प्रो. शरद नारायण खरे	21
17.	समीक्षा	संभव है : निबंध संग्रह	आचार्य बलबन्त	22
18.	कविता	हे प्रकृति माँ /लिंगडू की गठरियाँ	मनोज चौहान	23
19.	कहानी	आना मेरे घर	तुलसी देवी तिवारी	24
20.	कहानी	लसहरा	राणाप्रताप सिंह	27
21.	निबंध	नुक्कड़ नाटक का सामाजिक सरोकार	नितप्रिया प्रलय, शोधार्थी	29
22.	कविता	हिन्दी हैं हम	मुनि कुमार कुलश्रेष्ठ,	30
23.	रिपोर्ताज	आखिर हिरण को कबतक मिलेगा न्याय	डॉ. आकांक्षा यादव	31
24.	कविता	उस आँगन की याद में, आशिष / दु:ख, बाज़ार....	कुमारी वन्दना, मणि मोहन	32
25.	समीक्षा	मैं जहाँ हूँ : ग़ज़ल संग्रह, विज्ञानव्रत	दयानन्द जायसवाल	33
26.	ग़ज़ल	ज़िंदगी/ग़ज़ल	डॉ. पुष्पलता, अशोक मिज़ाज	34
27.	परिचर्या	अर्ध सत्य का दारुण दंश	डॉ. उमेश प्रसाद सिंह	35
28.	परख	मनुवादी व्यवस्था को दोषपूर्ण किसने बनाया	गोपालचन्द्र घोष 'मंगलम'	37
29.	कसौटी	आजादी के सत्तर वर्ष : ये कहाँ आ गए...	डॉ. मंजरी पाण्डेय	39
30.	ललित निबंध	हिन्दी काव्य में प्रतिबिम्बित सामाजिक स्वरूप	मोनिका सिंह	40
31.	कविता	मेघ उतरता है, भावभीनी बात हो / लानत है ऐसे नवयुग पर	कविता विकास, अशोक कुमार तिवारी	42
32.	समीक्षा	संवेदनाओं के क्रान्तिबीज	डॉ. जियालाल आर्य	43
33	कविता	नाव हो मांझी, न सागर जान पाता है /सर्जक /वीर–वन्दना	रचना तिवारी, गिरिजा शंकर मोदी, अभय कुमार भारती	44
34	लोकवाणी			45

आम आदमी

इस देश का
आम आदमी चुप है
लेकिन वह चुप नहीं रहेगा
वह माँगेगा एक दिन
तुमसे
देश का हिसाब
कि क्या यह देश मात्र तुम्हारा ही है
हमारा नहीं है
वह उमड़ेगा एक दिन
सड़क से संसद तक
देने को तुमको
देशद्रोह की सजा
रचकर अपना न्याय–शास्त्र
कि तुम्हारी अमीरी का राज
वह जान चुका है।

गिरिजा शंकर मोदी

पुरोवाक्

दयानन्द जायसवाल

संस्थापक की कलम से

आधुनिकतावाद आज साहित्य के सामने एक बड़ी चुनौती के रूप में खड़ा है; क्योंकि हमारे समाज में आबादी का बड़ा हिस्सा गरीबों, अशिक्षितों का है, जिनमें शिक्षित–अशिक्षित सब तरह के मजदूर हैं। ऐसे में उनका आदर्श क्या हो सकता है?इसके बाद भी अगर वर्गभेद की समस्या उत्पन्न हो जाए, तो पद और धन पर कब्जा किये बैठे लोगों के प्रति संघर्ष करना पड़ जाता है; क्योंकि समाजवाद चाहता है कि मनुष्य मात्र का समान भाव से शिक्षा, काम, अवसर और फल मिले। लेकिन विध्वंसक पूँजीवाद समाजवाद को कुचलकर आगे बढ़ रहा है। यही कारण है कि 'अहिंसा परमो धर्मः' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की हमारी संस्कृति विलुप्त होती जा रही है। ऐसी विषम परिस्थिति में साहित्यकार अपने साहित्य के द्वारा समाज को आदर्श और यथार्थ जीवन जीने का विकल्प दें, ताकि एक बेहतर सामाजिक व्यवस्था तथा सुन्दरतर जीवन की लोग कल्पना कर सकें।

आज सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संकट जिस दौर से गुजर रहे हैं, उसमें चारों तरफ वैचारिक शून्यता और मूल्यहीनता व्याप्त है। भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, निराला, पंडित रामावतार शर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, डॉ0 रामविलास शर्मा जैसे विचारकों की समृद्ध शृंखला को याद कर आत्मा तड़प उठती है कि जिन्होंने अपने साहित्य के द्वारा समाज को मानवीय एवं सामाजिक विचारों तथा मूल्यों को स्थापित करने में क्या कसर नहीं छोड़ा! इनके कथा साहित्य तो अमानुषिक जीवन जी रहे लोगों के बीच विभिन्न विधाओं से सौंदर्य–बोध करा भविष्योन्मुख विकल्प भी दिये।

साहित्य का विषय केवल आनन्द का नहीं है। यह चिंतन को नई दिशा देने की खोज है, जिसकी निर्णायक भूमिका ऐसे साहित्य का सृजन करती है, जो आगे–आगे चलकर मशाल दिखाने का काम करती है। साहित्यकारों को सर्जना के साथ–साथ उन्हें अपने साहित्य को उस अंतिम व्यक्ति तक ले जाना है, जिसके लिए वह लिखा गया है। साहित्य के मंदिर में उन उपासकों की आवश्यकता है, जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो, प्रेम का इज़हार हो, उच्च चिंतन हो, सौंदर्य का सार हो और जीवन की सच्चाई भी हो। हमारे कर्म का उद्देश्य यदि उत्तम हो, तो वह पूजा कहलाता है।

मनुष्य की सहजता, सरलता, संस्कृति, आत्मीयता, उदात्त मानवीय मूल्य जो बिखरे पड़े हैं, हमारे जीवन के लिए अनिवार्य एवं संग्रहणीय हैं, ये हमारी आशा की किरण हैं। समय जितना ही खूँखार और वीभत्स होकर उभरा है, मनुष्यता उतनी ही कोमल, संयत एवं संवेदनशील की विरल अनुभूति के रूप में हमारे सामने आती है तथा इन्हें सघन बनाने की चुनौती भी हमारे सामने आती है। क्योंकि बिना साहित्य के कोई मूल्य संस्कृति पैदा हो ही नहीं सकती।

आज अलगाववादी अशिक्षा, गरीबी और जहालत को हमपर, हमारे बच्चों पर, हमारे समाज पर जो थोप देना चाहते हैं, वो यह सोचकर कि असंतोष की लपटें ज्यादा–से–ज्यादा और पकड़ सकें। यह एक ऐसा चक्रव्यूह है, जिसे तोड़ना होगा। तंग आकर कश्मीरी चिल्ला ही रहे हैं, हमें आजादी नहीं, रोटी चाहिए। आज वे इस अर्धसत्य की जिंदगी से अजीज हो उठे हैं। पिछले कुछ महीने घाटी में तकरीबन 30 स्कूलों को आग के हवाले कर दिया गया। इसका मूल उद्देश्य बच्चों को स्कूल जाने से रोकना है। भविष्य के सपनों को ही कुचल देना है। उसकी असली पीड़ा से देश और दुनिया बेखबर है। नौकरशाह या एजेंसियाँ या तो चुप हैं या फिर बोलने से मजबूर हैं। दिनकर जी ने नेहरू जी से कहा था–''राजनीति जब लड़खड़ाती है, तब उसे साहित्य ही सँभालता है।'' साहित्यकारों को दुनिया के दर्द से रू–ब–रू होना और उसपर बोलना उसकी जिम्मेदारी है; क्योंकि बिना साहित्य के कोई मूल्य संस्कृति पैदा हो ही नहीं सकती।

एक ओर विज्ञान ने जहाँ हमें जीवन–यापन के लिए अत्यन्त सुख–सुविधाएँ प्रदान की हैं, वहाँ दूसरी ओर मानवता भयग्रस्त हो रही है। विज्ञान ने मनुष्य से मनुष्यता छीन ली। संसार अपने–अपने स्वार्थों में व्यस्त है, प्रत्येक राष्ट्र अपना ही चिंतन करता है, न तो उसकी पड़ोसी देशों के साथ सहानुभूति है और न ही संवेदना। विश्व के महान् देश भी आज अपनी–अपनी उपलब्धियों के आधार पर एक दूसरे के विनाश के लिए कटिबद्ध है। ऐसे में साहित्यकार ही मानव के दूषित संस्कारों को, कलुषित भावों को और स्वार्थपूर्ण विचार धाराओं को बदल सकते हैं तथा उनके हृदय में उदात्त और सात्विक भावों का सृजन कर आधुनिकतावाद की चुनौती का सामना करवा सकते हैं। अतः विश्व कल्याण के लिए नितांत आवश्यक है कि साहित्यकार आगे आवें और 'सुसंभाव्य' के संतुलित शिलान्यास पर मानव कल्याण का भव्य प्रासाद निर्माण करें।

नव वर्ष की हार्दिक शुभकामनाओं के साथ सादर समर्पित।

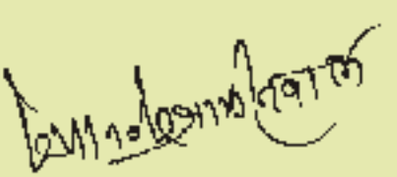

आलेख :

भाषा की जीवन्तता और उभरते ख़तरे

डॉ0 अमर सिंह वधान,
प्रो0 एमरिट्स, डी.लिट्. 3150,
सेक्टर 24-डी, चंडीगढ़–160023, मो0–9876301085

भाषा मनुष्य को एक ईश्वरीय देन है। यदि भाषा का ज्ञान मनुष्य को न हुआ होता, तो वह उतना ही ज्ञान सीमा के भीतर कैद रहता, जितने में इतर जीवधारी हैं। भाषा के कारण ही सभ्यता, संस्कृति, साहित्य एवं अन्य ज्ञान–विज्ञान का प्रादुर्भाव संभव हो सका है। भाषा के माध्यम से ही मनुष्य ने एक दूसरे से मेलजोल किया, वैचारिक आदान–प्रदान करते हुए अपने ज्ञान को विस्तार दिया। सूत्र रूप में कह दें तो जहाँ तक भाषा है, वहीं तक आलोक है। भाषा का सेतु टूटते ही मनुष्य और मनुष्य के बीच खाई उत्पन्न हो जाती है। भाषा बताती है कि मनुष्य के अंदर रोशनी है या नहीं।

लेकिन वैश्विक स्तर पर आधुनिक विज्ञान के विकास एवं सूचना प्रौद्योगिकी की त्वरित प्रगति से न केवल शक्ति और सत्ता के प्रतीकों में युगान्तकारी परिवर्तन हुए हैं, बल्कि विश्व की भाषाओं, साहित्य, संस्कृति और सभ्यता के गहरे में प्रभावित हुए हैं। इस संदर्भ में भारतीय संस्कृति, यहाँ की क्षेत्रीय भाषाएँ, विशेषकर हिन्दी तथा बोलियाँ भी प्रतिकूल प्रभाव के दायरे में ही हैं। आश्चर्य नहीं कि विश्व की संकटग्रस्त भाषाओं की वर्तमान स्थिति, दिशा एवं सुरक्षा संभावना के प्रति जागरुक होकर यूनेस्को, नार्वे सरकार ने दुनिया की ख़तराग्रस्त भाषाओं की ताज़ा मानचित्रावली प्रकाशित की है, जिसका मूल लक्ष्य भाषाई गंभीर संकट के प्रति नीति–निर्धारकों, भाषा विशेषज्ञों, प्रयोगकर्ताओं, विभिन्न भाषा–भाषी समुदायों एवं सामान्यजनों को सचेत करना है। इसके पीछे यूनेस्को का यह भी प्रयोजन है कि संकटपूर्ण भाषाओं की दशा की जाँच–पड़ताल की जाए, ताकि विश्व स्तर पर भाषिक विभिन्नता में उत्पन्न नई प्रवृत्तियों का परीक्षण करके सुरक्षा प्रदान किया जा सके।

गौरतलब है कि आज विश्व में 6000 भाषाएँ बोली जाती हैं और इनमें से अधिकतर भाषाएँ कई बोलियों में हैं। इसमें कोई हैरत नहीं कि ऐसी बहुत–सी भाषाएँ हैं, जो बोलने के प्रचलन में नहीं हैं अर्थात् वे लुप्त हो चुकी हैं, समाप्त हो चुकी हैं। इनमें से कुछेक जैस लैटिन, प्राचीन ग्रीक आदि को केवल कृत्रिम रूप में जारी रखा गया है। फिर भी ऐसी बहुत–सी भाषाएँ लुप्त हो गई हैं, जिनके बारे में हमें कोई विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं होती है। ज्यादा–से–ज्यादा इन भाषाओं में लिखित खंडमय सामग्री ही मिलती है, जिससे उन भाषाओं के स्वरूप का पता चलता है। अन्य लुप्त हो चुकी भाषाओं की प्रकृति के विषय में थोड़ी भी जानकारी हमें नहीं मिलती है। ऐतिहासिक अभिलेखों से केवल इन भाषाओं के नामों की सूचना ही मिलती है। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत–सी भाषाएँ भी समाप्त हो चुकी हैं और उनके बारे में कोई जानकारी प्राप्त ही नहीं होती है।

यहाँ विशेष रूप से उल्लेख्य है कि प्रत्येक भाषा एक अनुपम विश्व दृष्टि एवं संस्कृति मिश्रण को प्रतिबिंबित करती है। भाषा से ही पता चलता है कि अमुक समुदाय ने अपनी वाक्य शक्ति द्वारा विश्व के साथ अपनी समस्याओं को कैसे सुलझाया होगा तथा किस प्रकार दुनिया के बारे में अपनी सोच, समझ एवं दर्शन प्रणाली का निरूपण किया होगा। इस अर्थ में प्रत्येक भाषा लोगों की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की अभिव्यक्ति का साधन है। यहाँ तक कि संस्कृति, जो इसके ह्रास और विघटित होने का आधार है, के बाद भी अमुक भाषा कुछ समय के लिए इसी संस्कृति के प्रतिबिम्ब के रूप में बनी रहती है। यहाँ तक कि महानगरीय संस्कृति के प्रबल प्रभावाधीन भी वह भाषा अपना अस्तित्व बनाए रखती है। लेकिन कालान्तर में इसी भाषा के मरण एवं लुप्त हो जाने के बाद उस भाषा में प्रकट विश्व दृष्टि, मानव विचार की समझ एवं ज्ञान की भरपाई कदापि नहीं हो सकती।

वैसे भाषाओं के मरने एवं लुप्त होने की प्रक्रिया मानव समाज में एक प्राकृतिक घटना के रूप में मंद गति से हजारों वर्षों से चली आ रही है। यह प्रवृत्ति कभी–कभी स्थानीय स्तर पर थोड़े समय के लिए तेज हो जाती है। यह सब कुछ उस समय होता है, जब कोई शक्तिशाली विजेता अथवा विजय पानेवाला समूह किसी छोटे–से समुदाय पर, जिसमें कई विभिन्न भाषाएँ बोली जाती हैं, आक्रमण करके उसे खत्म कर देता है। तथ्यात्मक सूचनाएँ साक्षी हैं कि गत 300 वर्षों में भाषाओं की मृत्यु एवं लोप में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है और नतीज़तन वह नाजुक स्थिति बन गई है कि वर्तमान में विश्व में बोली जानेवाली 3000 या इससे अधिक भाषाएँ गंभीर ख़तरे में हैं अथवा लुप्त होने के कगार में हैं। कुछ अभी भी ऐसी व्यवहार्य भाषाएँ हैं, जो पहले से ही गहरे संकट का संकेत दे रही हैं और जल्दी ही ख़तरे की अवस्था में प्रवेश करके लुप्त हो जाएँगी। यूनेस्को ने ऐसी ही लुप्त होनेवाली विश्व की 2500 भाषाओं एवं 196 भारतीय बोलियों का अनुमान लगाया है।

इस संवेदनशील बिन्दु पर एक महत्त्वपूर्ण सवाल खड़ा होता है कि भाषाएँ ख़तरे के निशान पर या लुप्त होने के कगार पर कैसे पहुँचती हैं? ज़ाहिर तथ्य तो यह है कि किसी भी समुदाय की भाषा जो बच्चों द्वारा नहीं सीखी जाती है अथवा उस समुदाय के एक बड़ी संख्या में बच्चों का समूह अर्थात् कम–से–कम 30 प्रतिशत उस भाषा को ही सीखते हैं, उसे संकटग्रस्त या संभाव्य ख़तराग्रस्त माना जाएगा। लेकिन भाषा के संकटग्रस्त होने के कुछ अन्य कारण भी है, भले ही बोलनेवाले बच्चे हैं। जिन स्थितियों या परिस्थितियों में भाषा ख़तराग्रस्त होती है और उसके लुप्त होने की चुनौतियाँ मिलती हैं, उनमें कुछ इस प्रकार संश्लेषित हैं–

अ किसी भाषा समुदाय को अपनी मूल बोलचाल की भाषा से जबर्दस्ती विभक्त एवं प्रतिरोधित करके किसी दूसरी भाषा के समुदाय के लोगों या लघु समूहों में डाल देना।

अ किसी विशिष्ट भाषा समुदाय और किसी आक्रामक संस्कृति के लोग, जो प्रायः महानगरीय भाषा बोलते हैं, का आमने–सामने सम्पर्क होना।

अ किसी प्रभावशील संस्कृति के लोगों का क्रियाकलापों द्वारा स्थानीय भाषाओं के बोलनेवालों के परिवेश, निवास क्षेत्र एवं जीविका को नष्ट करना।

अ प्राकृतिक विपदाओं, जैसे–ज्वालामुखी विस्फोट, बाढ़, दावानल, तबाह कर देनेवाली नई बीमारियों और महामारी, जो स्थानीय भाषाओं के बोलनेवालों और उस सशक्त संस्कृति के लोगों के बीच सम्पर्क होना, जहाँ पहले समुदाय के लोगों में बीमारियों के प्रति प्रतिरोधक शक्ति नहीं होती है।

यह मानीखेज है कि भाषा संकट के विमर्श में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटक अमुक भाषा के बोलनेवालों की संख्या है। ज़ाहिर है कि विशाल जनसमूह में बोली जानेवाली भाषाओं के लुप्त होने का खतरा अन्यों की तुलना में कम होता है। एक जाहिर तथ्य यह भी है कि यदि पीढ़ियों द्वारा अमुक भाषा बोली जाती है और अंतर पीढ़ी भाषा संचारण अविच्छिन्न है, तो उस भाषा को कोई ख़तरा नहीं है। अधिकतर बच्चे भाषा बोलते हैं, लेकिन कतिपय क्षेत्रों में अर्थात् घर में यदि इसे प्रतिबंधित किया जाता है, तो वह भाषा असुरक्षित है। मातृभाषा के रूप में बच्चों का घर पर

भाषा न सीखना, उस भाषा के लिए निश्चित ख़तरा है। इसी प्रकार दादा–दादी, नाना–नानी एवं पुरानी पीढ़ी द्वारा बोली जानेवाली भाषा, जिसे माता–पिता पीढ़ी समझ सकती है, यदि इसी भाषा को वे अपने बच्चों के साथ या आपस में नहीं बोलते हैं, तो उस भाषा के लिए सख़्त ख़तरा है। यदि दादा–दादी और नाना–नानी युवा वृद्ध हैं और वे अमुक भाषा को अंशतः एवं कभी–कभी बोलते हैं, तो उस भाषा के लिए नाजुक ख़तरा है। जिस भाषा को बोलनेवाले हैं हीं नहीं, वह विलुप्त भाषा है। वर्ष 1950 से इसी घटक के कारण विश्व की सैकड़ों भाषाएँ समाप्त हो गई हैं। विश्व की 43 प्रतिशत भाषाओं, जो लुप्त होने के कगार पर हैं, को अंतरपीढ़ी भाषा संचरण की प्रक्रिया द्वारा बचाया जा सकता है।

ऐसा नहीं है कि अंतर्राष्ट्रीय भाषाविद् भाषा जीवन्तता एवं संकट के प्रति जागरूक नहीं हैं। वे भाषा शक्ति के विकास की दिशा में कार्यरत हैं और भाषा नीति विकास, आवश्यकताओं की पहचान एवं उचित रक्षा मानदंडों के निर्धारण में प्रयासरत हैं। इस संदर्भ में यूनेस्को द्वारा गठित अंतर्राष्ट्रीय भाषा वैज्ञानिकों के दल ने संकटग्रस्त भाषाओं के शोध अध्ययन एवं सर्वेक्षण के बाद एक युगान्तकारी अवधारणा पत्र 'भाषा शक्ति एवं खतरा' प्रस्तुत किया है, जिसमें निम्नलिखित मानदंड रखे गये हैं–

- अ भाषा बोलनेवालों की पूर्ण संख्या,
- अ कुल जनसंख्या में बोलनेवालों का अनुपात,
- अ भाषा, शिक्षा एवं साक्षरता हेतु सामग्री की उपलब्धता,
- अ नये क्षेत्र एवं मीडिया की प्रतिक्रिया–अनुक्रिया,
- अ प्रलेखन की किस्म एवं गुणवत्ता,
- अ शासकीय स्थिति एवं उपयोग सहित सरकारी तथा संस्थागत भाषा दृष्टिकोण और नीतियाँ,
- अ भाषाई प्रयोग क्षेत्रों में परिवर्तन,
- अ समुदाय के सदस्यों का अपनी ही भाषा के प्रति दृष्टिकोण,
- अ पीढ़ियों के बीच का भाषा संचरण।

लेकिन सच्चाई यह है कि किसी समुदाय की भाषा की स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए कोई एक घटक पर्याप्त नहीं है। फिर भी उपर्युक्त घटक मिलकर भाषा की व्यवहार्यता, जीवन क्षमता, समाज में इसके कार्य, रखरखाव एवं नवप्राणन हेतु एक निश्चित मानदंड का निर्धारण करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। बहुभाषावाद को प्रोत्साहन एवं बढ़ावा देने का मानदंड भी विश्व के कई भागों में प्रचलित है। द्विबहुभाषावाद के लोग संस्कृतियों एवं सभ्यताओं के आक्रामक भाषा–भाषियों की चेतावनी और साज़िश का ज्ञान प्राप्त करके वे अपनी मूल भाषाओं के उत्तम ज्ञान को बनाये रखने में सक्षम होंगे। इससे वे अपनी सांस्कृतिक एवं पारंपरिक पहचान दोनों को सुरक्षित रख सकेंगे और उनके स्वाभिमान तथा आत्म–प्रतिष्ठा को भी कोई ठेस नहीं पहुँचेगी।

वैश्विक स्तर पर कुछ भाषाओं की वर्तमान स्थिति चौंका देती है। मसलन, अफ्रीका में 1400 भाषाएँ हैं और इनमें से 250 भाषाओं के लुप्त होने की चेतावनी मिल चुकी है। दिसम्बर 2010 में 'जेजू' और 'कोरो' दो नई भाषाओं को भी ख़तरे के दायरे में लिया गया है। कोरिया गणराज्य के 'जेजूद्वीप' पर रहनेवाले 10,000 लोगों की 'जेजू' भाषा के समाप्त होने का गंभीर ख़तरा है। 'द नेशनल जिओग्राफिक एंड्यूरिंग वॉयसेज़ प्रोजेक्ट' द्वारा अरुणाचल प्रदेश की 'कोरो' अलिखित भाषा की खोज 2010 में की गई है। यह भाषा लगभग 800 से 1000 तक वहाँ के लोगों द्वारा बोली जाती है। आश्चर्य नहीं है कि यह भाषा भी संकटग्रस्त है। इसे सुखद ही कहा जाएगा कि वैश्विक स्तर पर भाषाओं पर मंडराते ख़तरे के प्रति संवेदनशील होकर हर देश महसूस करने लगा है कि भाषाएँ संस्कृतियों, स्मृतियों एवं मूल्यों की संवाहिकाएँ हैं। वे राष्ट्र की पहचान, विविधता तथा निवास परंपरा का अनिवार्य घटक हैं।

प्रसिद्ध भाषाविद् और विचारक ई.एम. सिओरन ने बड़े महत्त्व की बात कही है–''कोई भी व्यक्ति किसी देश में निवास नहीं करता, बल्कि भाषा में निवास करता है।'' इससे एक कदम और आगे बढ़कर क्रिस्टोफर मोसले कहते हैं–''हर भाषा एक अनुपम विचार और दुनिया की संरचना है, जिसमें इसके अपने ही समुदाय–साहचर्य, रूपक, विचार, पद्धति, शब्दावली, ध्वनि प्रणाली, व्याकरण आदि होता है। ये सभी अद्‌भुत स्थापत्य संरचना में एक साथ कार्य करते हैं, जो इतना नाजुक होता है कि यह आसानी से हमेशा के लिए लुप्त हो सकता है।'' हम दोनों महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक कथनों के आलोक में भारतीय भाषाओं की दशा, दिशा एवं संभावना को आँका जा सकता है। भाषाई इतिहास की ग़वाही के मुताबिक डॉ. ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं की विशेषताओं का गहन अध्ययन किया था और अपने भारतीय भाषाई सर्वेक्षणोपरान्त एक स्थान पर 179 भाषाओं एवं तिब्बत को मिलाकर 500 बोलियों का उल्लेख किया है। एक अन्य भाषा सर्वेक्षण दल ने अपनी रिपोर्ट में भारत में 1618 प्रामाणिक भाषाओं की बात कही है। लेकिन वर्ष 1961 में भारत में 1652 भाषाएँ थीं, जिनमें से 14 भाषाओं को संविधान की आठवीं सूची में रखा गया और बाद में 8 अन्य भाषाओं को शामिल किया गया। आज भारत की संवैधानिक तौर पर 22 भाषाएँ हैं, यद्यपि साहित्य अकादमी, नई दिल्ली ने 'भारतीय अंग्रेजी' और 'राजस्थानी' दो अन्य भाषाओं को मान्यता देते हुए इन्हें आठवीं सूची में शामिल करने हेतु भारत सरकार से अनुरोध किया है।

यूनेस्को ने कुछेक भारतीय भाषाओं एवं बोलियों को होनेवाले ख़तरे की बात अपने 2010–2011 के सर्वेक्षण निष्कर्षों में कही है। यह निश्चित रूप से चिंता और चिंतन का विषय है। इस आशंकित खतरे से भारतीय भाषाओं के बचाव के लिए आवश्यक और सार्थक कदम उठाए जाना लाज़मी है और इनमें कुछ ये हैं–

- ❖ बोली और भाषा को लेकर व्यर्थ के विवादों और साज़िशों को नकारा जाए तथा इन दोनों के पारस्परिक संबंध को समझा जाए। कहने की ज़रूरत नहीं कि भाषा के निर्माण और विकास में बोलियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। बोली भाषा में मिलकर सामान्यजन की भाषा बन जाती है। महाभारती इस देश की बोलियों में ही झंकृत एवं अलंकृत होती है। भाषा में विषय होता है, बोली में विश्वास होता है। जब विश्वास विषय में मिलता है, तो साहित्य बनता है। सन्नाटे की आहट बोली सुनती है, भाषा नहीं। भाषा में चिंतन की परंपरा है, तो बोली में गाने की परंपरा है; भाषा में दार्शनिकता होती है, तो बोली ऊपर से गिरता हुआ जलप्रपात है।
- ❖ भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिन्दी में निहित शक्ति को पहचानने की आवश्यकता है। जीवित भाषा वही होती है, जिसमें जनता की धड़कन हो, जीवन शक्ति हो। भारतीय भाषाएँ एक सूत्र की जटाएँ हैं। हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाएँ एक बड़े स्तर पर अपनी चिंतन शक्ति एवं जीवन शक्ति का अहसास विश्व को कराएँ।
- ❖ हिन्दी के समर्थक इस सच्चाई को गहरे में जाने–पहचाने कि भारतीय भाषाओं के विकास के बिना हिन्दी के विकास की बात करना बेमानी होगी। ज़बान पर ज़िन्दा रहनेवाली भाषा ही जीवित रहती है। शुद्धता का जिद्दी आग्रह भाषा विकास की गति को धीमा करता है।
- ❖ लिपि कोई भी हो, लेकिन उसमें जो व्यक्त हो, वह सबल और प्रभावी हो। भारत की सभी लिपियाँ समृद्ध एवं सुन्दर हैं। नागरी लिपि की ध्वन्यात्मकता और वैज्ञानिकता का आदर किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से लिपि का भी महत्त्व है, जिसे विनोबा ने सर्वप्रथम पहचाना था।
- ❖ इधर भारतीय भाषाओं को लेकर बढ़ती विषमता भाषाओं के ही अस्तित्व एवं अस्मिता के लिए खतरनाक है। अतः प्रत्येक भाषा के ठोस तत्त्वों की खोज की जाए, ताकि उसे अधिक पुख़्ता बनाया जा सके। अंग्रेजी सीखना बुरी बात नहीं है, लेकिन मातृभाषा की बलि न चढ़ाई जाए।

- दिलचस्प है कि साहित्य रहित द्रविड़ भाषाओं (तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम) को बोलनेवाले पहाड़ों पर पाए जाते हैं और इन्हें पूरा संरक्षण मिलना चाहिए।
- भाषावाद एवं प्रान्तवाद देश को तथा भाषाओं को कमजोर बनाते हैं। भाषा के आधार पर राष्ट्रीय संवेदनशीलता हो, ताकि भाषाओं में लगे आपसी संकीर्णता के ताले खुलें।
- सभी भाषाओं में आपसी समन्वय हो, दुश्वारियों और अड़चनों पर विमर्श हो।सभी भारतीय भाषाओं के प्रति सद्भावना होना ज़रूरी है।
- इस सत्य को भी नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए कि भारतीय भाषाएँ सुगंध और स्वाद से भरपूर हैं। इनमें आत्मीयता है, भारत की आत्मा है। इन भाषाओं की लौ को विदेशी भाषाई घुसपैठ और प्रहार से बचाना प्रत्येक भारतीय भाषा–भाषी का परम कर्तव्य है।

यह कहना विषय के केन्द्र के अधिक करीब होना ही है कि कोई क़ौम अपनी ज़बान के बग़ैर न जिन्दा रह सकती है और न ही अच्छी तालीम हासिल कर सकती है। किसी ज़रूरत विशेष के लिए अन्य विदेशी भाषा सीखना बुरा नहीं है, लेकिन उससे नफ़रत करना बेअक्ल का प्रमाण देना है। प्रत्येक देशवासी को अपनी भाषा से मुहब्बत करनी चाहिए और उसे सबसे पहले सीखना चाहिए। यहाँ एक यक्षप्रश्न है कि यदि हम अपनी मातृभाषा एवं राष्ट्र भाषाओं को संकटमुक्त नहीं रख सकते, इन्हें दीर्घायु नहीं बना सकते, इनके विकास और उन्नयन में योगदान नहीं दे सकते और इनमें विद्यमान संपदा को सुरक्षित नहीं रख सकते तो हमारी इन आँखों, इन कानों, इन मुँह और इन हाथों की क्या उपयोगिता है?

रविशंकर सिंह
वर्धमान, प.बं.
मो. 9851605462

औरत

धनुष की डोरी पर
सधे वाण की तरह
तनी हुई औरत
अच्छी लगती है
वंचक शब्दों के जंगल में
दावानल की तरह
धधकती हुई औरत
अच्छी लगती है
चट्टानों की छाती चीर
हहराती नदी की तरह
अपना रास्ता बनाती औरत
अच्छी लगती है
साँसों में सातों सुर भरकर
धरती के करघे पर
सपने बुनती औरत
अच्छी लगती है
गन्ने के टुकड़े से
सूप पीटकर
दरिद्दर भगाने के लिए
अंतरिक्ष के पार जाती औरत
अच्छी लगती है।

माथे पर घूँघट डाल
आँचल की ओट देकर
बचाती है दीपक की लौ
हवा के झोंके से
संझा देती औरत
वह विदा देती है
अस्ताचलगामी सूर्य को
न्योता देती है
अनागत सूर्य को
अस्फुट मंत्र से
वह बाँधती है
भूत और भविष्य को
वर्तमान की डोर में
धरती के चाक पर
वह गढ़ती है
नित नूतन सपने
उसकी हथेली के स्पर्श से
सँवरती है संसार।

ज्योत्स्ना अस्थाना, उलियान, जमशेदपुर
मो0–09334624342

दुनियादार आदमी

पहचान लेता है
हवा के रुख को
भाँप लेता है–
आनेवाले आँधी–तूफान को
चेहरे के उतरते–चढ़ते भाव को
आँखों में आयी नमी को
पैरों तले जमीं को
गरल और अमृत के व्यवहार को
झूठ और सच के बाजार को
नदी में आयी बाढ़ से
कितनी होगी तबाही
और कितनी होगी कमाई
कब उठेगा बवंडर
कितने को लपेटेगा अपने अंदर
कब बढ़ेगा नदी का जल स्तर
और कब गरजेगा समुन्दर
एक दुनियादार आदमी की तरह
वह सीख गया है सफलता के गुर

गुर्राना कब है जरूरी
दम हिलाना कब है मजबूरी
बना भी जा सकता है
यदि, जरूरी हो,
शार्क, बाज, बेशर्म भेड़िया,
धूर्त सियार या
ध्यानमग्न बगुला
ऐसे ही वह
जान गया है
बहुत कुछ–बहुत कुछ
बस नहीं जान पाया है
तो, अपने रीढ़ की हड्डी को
सीधा रखना
और जहाँ जमीर कहे
चल देना
अपनी आँखों का
इस्तेमाल करते हुए।

संस्मरण :

बख्शीजी : कल और आज

डॉ. नलिनी किशोर श्रीवास्तव
भिलाई, छत्तीसगढ़, मो. : 9752606032

छत्तीसगढ़ राज्य ही नहीं हिन्दी साहित्य जगत् के लिए साहित्य वाचस्पति पुन्नालाल बख्शीजी का नाम परिचय का मोहताज नहीं है। हिन्दी के प्राध्यापक व शोधनिदेशक होने के नाते जब मैं आचार्य श्रीरामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' या आचार्य श्रीनंददुलारे बाजपेयी जी का 'हिन्दी साहित्य की बीसवीं शताब्दी' या डॉ. नगेन्द्र द्वारा संपादित भारतीय साहित्य पढ़ती हूँ, तो उन पुस्तकों में मुझे बख्शीजी के संबंध में एक ही वाक्य मिला कि बख्शीजी द्विवेदी युगीन निबंधकार हैं। इसके अतिरिक्त संपूर्ण पुस्तक में कहीं पर भी बख्शीजी का उल्लेख नहीं है। आखिर ऐसा क्यों?

कहा जाता है कि नाम को काटना हो तो उसकी चर्चा न की जाए। फिर स्वत: वह नाम गुमनामी के अँधेरे में खो जाता है।

बख्शीजी का नश्वर शरीर तो पंचतत्व में विलीन हो गया है। परन्तु वे आज भी अपनी साहित्यिक कृतियों के कारण जीवंत बने हुए हैं। उनकी रचनाएँ उन्हें कालजयी बनाने के लिए पर्याप्त हैं। बख्शीजी आज भी साहित्यकारों के बीच अनवरत चर्चा का विषय बने हुए हैं। छत्तीसगढ़ राज्य में रविशंकर विश्वविद्यालय में 'बख्शी शोधपीठ' है। इस्पात नगरी भिलाई को यदि हम साहित्य नगरी कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इस साहित्यिक नगर में 'बख्शी सृजनपीठ' स्थापित है। समय–समय पर बख्शी सृजनपीठ द्वारा एक से एक साहित्यिक कार्य, समीक्षा गोष्ठी एवं युवा साहित्यकारों को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक कार्यक्रम किये जाते हैं।

जनवरी 1900 में सरस्वती का प्रथम अंक काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इसमें पाँच विशिष्ट संपादक मंडल के सदस्य बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर, बी.ए.; बाबू श्यामसुन्दर दास, बी.ए., बाबू राधाकृष्ण दास, पं. किशोरीलाल गोस्वामी, बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री बनाये गये, लेकिन सरस्वती के दूसरे वर्ष 1910 में संपादन संबंधी दायित्व अकेले बाबू श्यामसुन्दर दास पर आ गया। 1903 में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती का संपादकीय कार्य प्रारंभ किया। हिन्दी साहित्य के अनुपम नंदनवन को बनाने में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और अन्य प्रबुद्ध विद्वानों का साहित्यिक अवदान अनवरत परिश्रम तथा जागरूक बुद्धिमत्ता का ही प्रतिफल है। उसी साहित्यिक नंदनवन में द्विवेदीजी के स्नेह संरक्षण व कुशल मार्ग निर्देशन में बख्शीजी रूपी कल्पतरु का भी विकास हुआ, जिनकी रचनाओं के सौरभ से हिन्दी साहित्य की मंजूषा सुरभित हुए बिना न रह सकी। यही कारण है कि बख्शीजी आचार्य द्विवेदीजी के उत्तराधिकारी माने जाते हैं।

बख्शीजी ने 1911 से 1971 तक अर्थात् साठ वर्षों तक साहित्य की सेवा की। साहित्य के क्षेत्र में आपका आगमन कवि के रूप में हुआ। आपने 'अश्रुदल' और 'शतदल' काव्य संग्रह की संरचना किया। किन्तु शीघ्र ही आपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर लिया और कथा एवं निबंध के क्षेत्र में अग्रसर हो गये। सरस्वती संपादक के रूप में आपको अपने साहित्यिक लक्ष्यों के प्राप्ति के लिए विशेष सहायता मिली और आपका साहित्यिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त भी हुआ। यद्यपि सरस्वती का संपादकीय कार्य आपके लिए काँटों का ताज सिद्ध हुआ, पर उससे आप कभी भी भयभीत नहीं हुए। आपके व्यक्तित्व की एकाग्रता, लगनशीलता एवं परिश्रम की पूर्ण आहुति से अनवरत साहित्य की संरचना होती रही।

सरस्वती के इस अनमोल हीरे बख्शीजी ने छत्तीसगढ़ की माटी में रहकर अपनी साहित्यिक कृतियों की संरचना की है। 'विश्व साहित्य', 'हिन्दी साहित्य विमर्श', 'हिन्दी कथा साहित्य', 'पंचमात्रा', 'नवमात्रा', 'समस्या और समाधान', 'प्रदीप' में आपके साहित्यिक निबंधों की विशिष्ट मीमांसा है। सदैव हँसमुख, प्रसन्नचित्त, सबको बिना किसी हिचकिचाहट के अपनाकर उनका आत्मीय बन जाना आपके लिए अति सहज था। आपने 'तुम्हारे लिए', 'मेरा देश', 'पद्मवन', 'कुछ', 'और कुछ', 'मेरी अपनी कथा', 'मेरे प्रिय निबंध', 'यात्री', 'अंतिम अध्याय' आदि में आपके संस्मरणात्मक वैयक्तिक, आत्मकथात्मक निबंध संगृहीत हैं।

क्या कारण है कि एक समय बख्शीजी की पुस्तकें हाई स्कूलों में 'विश्व साहित्य' और 'झलमला' पढ़ाई जाती है। बी.ए. ऑनर्स मेकं 'प्रायश्चित' नाटक मध्यप्रदेश में, नागपुर में 'प्रदीप' व 'पंचमात्रा' इंटरमिडियट में पढ़ाई जाती थी। बख्शीजी की संपादित पुस्तकें हिन्दी साहित्य चंद्रिका, हिन्दी बोध, प्रायमरी स्कूल उत्तर प्रदेश में पढ़ाई जाती थी। बख्शीजी की बालकथा माला चार भागों में पाँचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं की कक्षाओं में अविभाजित संपूर्ण मध्यप्रदेश में पढ़ाई जाती रही है। बालकथा माला बख्शीजी के गहन अध्ययन का प्रतिफल है एवं दूसरी भाषाओं के कहानियों का भावानुवाद एवं छायानुवाद भी है। बख्शीजी द्विवेदी युगीन ऐसे निबंधकार हैं, जिन्होंने बी.ए. की परीक्षा पास की है। परन्तु उनकी पुस्तकें पहली कक्षा से लेकर एम.ए. की कक्षाओं तक पढ़ाई जाती रही है। बख्शी साहित्य पर शोध–प्रबंध भी लिखे गये हैं, फिर भी हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने बख्शीजी के नाम को क्यों हाशिए पर रख दिए हैं। मेरे मन मस्तिष्क में यह बात बार–बार उद्वेलित होती रही है कि आखिर ऐसा क्यों किया गया है?

हीरे की परख जौहरी ही करता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीजी ने छत्तीसगढ़ के अनमोल हीरे बख्शीजी को सरस्वती के सहयोग संपादन का भार सात जुलाई 1920 को दिया। तत्पश्चात् बख्शीजी की ईमानदारी लगन विद्वत्ता और परिश्रम से आचार्य द्विवेदी इतना खुश हुए कि मार्च 1921 में उन्हें प्रधान संपादक नियुक्त कर दिये। आचार्य द्विवेदी जी शारीरिक अस्वस्थता के कारण कार्यमुक्त होना चाहते थे। बख्शीजी छत्तीसगढ़ के एक साधारण सत्ताईस वर्षीय नवयुवक को सरस्वती जैसी विशिष्ट पत्रिका का संपादक बन जाना, जिसका साहित्य जगत में तबतक कोई विशेष पहचान नहीं बनी थी। इस कारण उत्तरप्रदेश के ख्यातिप्राप्त साहित्यकारों ने सरस्वती में अपना लेख भेजना बन्द कर दिये। यहाँ तक कि प्रेमचन्द की लेख–कहानी भी सरस्वती पत्रिका के लिए दुर्लभ हो गई थी। ऐसी विषम परिस्थिति में भी बख्शीजी हताश नहीं हुए और दूने उत्साह से तत्कालीन परिवेश को अपनी परीक्षा की घड़ी समझ सरस्वती का संपादन कार्य करने लगे। बख्शीजी की साहित्य पिपासा ने किसी भी बात की परवाह न कर सिर्फ अपने लक्ष्य को ध्यान में रखकर आगे बढ़ते चले गये। आज मैं सोचती हूँ कि यदि बख्शीजी छत्तीसगढ़ के न होकर उत्तरप्रदेश के होते तो उन्हें शायद इस विरोध का सामना न करना पड़ता। यह विरोध की भावना का अंकुरण क्षेत्रीयता की भावना के कारण हुई होगी। सरस्वती का पहला अंक दो महीने देर से निकला। लोगों ने उसकी जमकर आलोचना की। बख्शीजी सतर्क हो गये और कलकत्ता से पुराने ब्लॉक मँगवाकर चित्रों के आधार पर स्वयं ही कल्पित नाम से अनेक लेख लिखने लगे। बख्शीजी अपने पास अगले तीन महीने में अंक की तैयारी रखने लगे, ताकि सरस्वती पत्रिका सही समय पर लगातार निकल सके।

19वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अनुवादों का युग था। बख्शीजी अनुवाद

करने की कला में विशेष निपुण थे। 1916 में मेंटरलिंक का सिस्टर विट्रिस नामक उपन्यास का प्रायश्चित नाम देकर अनुवाद किया था, जिससे साहित्य जगत् परिचित हो चुका था।

इतना ही नहीं, बख्शीजी ने छत्तीसगढ़ के साहित्यकारों के लिए सरस्वती का दरवाजा खोल दिया। सरस्वती में बख्शीजी ने 'अपनी बात' शीर्षक से धीरे–धीरे लोगों को प्रभावित करने लगे। उसकी प्रशंसा भी होने लगी। बख्शीजी के संपादन काल में कहानी विशेषांक निकला। जिसकी साहित्य जगत में विशेष प्रशंसा भी की गई।

बख्शीजी सरलता की प्रतिमूर्ति एवं साधु स्वभाव होने के कारण कटुतापूर्ण आक्षेपों को न सह सके और सरस्वती का संपादन छोड़कर खैरागढ़ आ गए। इसमें उनका पारिवारिक कारण यह भी था कि बख्शीजी के पुत्र रवीन्द्र बीमार पड़ गया था। उनका यह विश्वास था कि वह खैरागढ़ में ठीक हो जाएगा। परन्तु तीन वर्षीय पुत्र रवीन्द्र की मृत्यु ने उन्हें तोड़ दिया। 1925 में बख्शीजी को फिर संपादन कार्य के लिए बुलाया गया। तीन वर्षों तक संपादन करते रहे। परन्तु खैरागढ़ जन्मभूमि के प्रति अगाध प्रेम के कारण उन्हें इलाहाबाद रास नहीं आया और वे खैरागढ़ आ गये। तीसरी बार फिर बख्शीजी को बुलाया गया। तब बख्शजी ने कहा कि वे खैरागढ़ छोड़कर नहीं जा सकते। तब खैरागढ़ में ही रहकर सरस्वती का संपादन कार्य करने की उन्हें स्वीकृति मिल गई। खैरागढ़ में सरस्वती का संपादन कार्य उन्होंने लगभग तीन वर्षों तक किया। हिन्दी साहित्य के उद्भवकाल से लेकर आधुनिक साहित्य की श्रीवृद्धि उन्हीं लोगों ने की, जो स्वयं श्रीहीन थे। कबीर, तुलसीदास, सूरदास, जायसी आदि साधकों और भक्तों ने वैभव का तिरस्कार कर साहित्य में सच्चे गौरव की गरिमा प्रतिष्ठित की।

बख्शीजी भी छल–कपट और दाव–पेंच में समझौतवादी प्रवृत्ति नहीं अपना सके। उनका स्वाभिमानी मन कीचड़ में कमल की तरह निकला था। उन्होंने साहित्य की रचना यश–प्राप्ति या अर्थ सिद्धि के उद्देश्य से नहीं किया। जिस कार्य में उन्हें आनंद की अनुभूति नहीं होती थी, उस कार्य में लाभ होने पर भी वे छोड़ देते थे।

बख्शीजी ने सदैव अपने जीवन को सत्य की छाँव में रखने की कोशिश की। उस छाँव की शीतलता का अहसास ही उनका प्रेरणा स्रोत था। इसी से उनकी गहन अध्ययन की अनुभूति से परिपक्व चिंतन लेखनी की अजस्रधारा में बह उठी। फिर वह उपलब्धि समतल मैदान में ही नहीं, क्लिष्ठ विषयों के ऊबड़–खाबड़ रास्तों से होती हुई समीक्षा शास्त्रों में दुर्गम पहाड़ों को भेदकर हिन्दी साहित्य के अनुपम निर्मल स्रोत में परिणित हो गई। बख्शीजी ने धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक महत्वों के विषयों को भी केन्द्र बनाकर अपने विचारों का सुन्दर अभिव्यंजना प्रस्तुत किया है। बख्शीजी ने शक्ति की उपासना के विविध रूपों और नामों का विश्लेषण किया है। वे व्यापक सांस्कृतिक, दार्शनिक दृष्टिकोणों की प्रस्तुति करते हैं। इस तरह बख्शीजी के वैयक्तिक निबंधों की परिधि भी अत्यन्त व्यापक है।

बख्शीजी के साहित्य का सर्वश्रेष्ठ अंश उन्हीं रचनाओं के माध्यम से व्यक्त होता है। विषय और शिल्प दोनों दृष्टि से ये निबंध आज भी नवीनता लिये हुए हैं और मानव जीवन की सहज संवेदनाओं के निकट है। अभी तक हिन्दी साहित्य में इन विषयों पर इस प्रकार की ऊर्जा व आत्मीयता से युक्त रचनाएँ देखने को नहीं मिलतीं।

बख्शीजी की डायरी में हम उन तारीखों से गुजरते हुए उनके रोजमर्रा की जिंदगी की धड़कनों को महसूस करते हैं। इसमें एक महत्वपूर्ण बात उजागर होती है कि बख्शीजी साहित्य के प्रति किस कदर समर्पित रहे हैं। उनका जीवन कितना निर्लिप्त और स्वभाव साधुपन से भरा हुआ था। उसका जीवंत चित्र हमें उनकी डायरी में भी परिलक्षित होता है। यह एक प्रकार से साहित्य का अमूल्य दस्तावेज है।

बख्शी साहित्य में आशा है, उत्साह है, हर्ष है, पर कहीं पर भी निराशा या दुःख का भाव नहीं दिखाई देता है। निश्छल भावों की निष्कपट अभिव्यक्ति से बख्शी साहित्य ओत–प्रोत है। बख्शीजी मानवीय संवेदनाओं के कुशल पारखी हैं। उनका साहित्य भावी पीढ़ी को सही दिशा–निर्देश देते हुए उत्साह, उमंग व आशा के प्रदीप्त किरणों से पाठक के मन को सहजता से प्रकाशमय करने में सक्षम है।

साहित्यकारों के बीच में आये दिन यह चर्चा का विषय होता था कि बख्शी साहित्य अप्राप्य है। अतः हम उसे चाहकर भी पाठ्य पुस्तकों में शामिल नहीं कर सकते। यह सच है कि बख्शी साहित्य बहुत बिखरा हुआ था। किसी एक के पास संपूर्ण सामग्री नहीं थी, लेकिन हर किसी के पास एक न एक बख्शी जी की साहित्यिक कृति अवश्य थी। ऐसी स्थिति में बख्शी ग्रंथावली का प्रकाशन असंभव ही था। मैंने सात वर्षों तक अथक परिश्रम कर बख्शी साहित्य एकत्र किया। मेरा उद्देश्य यही है कि बख्शी साहित्य का प्रचार–प्रसार भारत में ही नहीं, वेदशों में भी हो। इसीलिए मैंने दिल्ली के प्रसिद्ध वाणी प्रकाशन से बख्शी ग्रंथावली प्रकाशित करवाया है। बख्शी साहित्य को सिर्फ छत्तीसगढ़ में ही नहीं, संपूर्ण भारत के विश्वविद्यालयों में पाठ्य पुस्तकों में सम्मिलित किया जाए। तभी बख्शीजी के साहित्य से युवा–पीढ़ी परिचित होंगे और उनके साहित्य का सही मूल्यांकन होगा।

सरस्वती 19वीं शताब्दी की उत्कृष्ट पत्रिका थी, उनके संपादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने उनके उत्तराधिकारी सरस्वती के संपादक साहित्य वाचस्पति डॉ. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी बने।

लघुकथा :

जाँच का अन्त

दयानन्द
बैंगलोर मो0–9916618 60

'यहाँ तो इन्दिरा आवास गृहों का पता नहीं चलता है?'–जाँच पदाधिकारी

'सर!' अंचल पदाधिकारी ने डरते हुए कहा, जिसके विरुद्ध जाँच चल रहा था।

'प्रधानमंत्री सड़क योजना के अंतर्गत यह सड़क इतना खराब क्यों है.. .?जाँच पदाधिकारी ने पूछा।

'सर'–अंचलाधिकारी ने नज़र नीची कर कहा।

'सड़क किनारे मिट्टी भरने का कार्य का क्या हुआ?' जाँच पदाधिकारी

'सर'–अंचलाधिकारी।

जाँच पदाधिकारी ने कार्यों का भौतिक सत्यापन कर अंचलाधिकारी के साथ अंचल कार्यालय की ओर प्रस्थान किया। फिर पंजियाँ, अधिलेखों, विपत्रों की जाँच में पता चला कि गरीब विद्यार्थियों के लिए आबंटित राशि, मातृत्व योजना, आँगनबाड़ी, हरिजन छात्रावास आदि सभी योजनाओं की आबंटित राशि में घोर अनियमितता है।

कुर्सी पर बैठे जाँच पदाधिकारी के सामने अंचलाधिकारी नतमस्तक खड़ा था। पता चला कि मौखिक स्पष्टीकरण में अंचलाधिकारी ने घोटाले को स्वीकार करते हुए बतलाया कि ग्रामीण सर्वदलीय जाँच समिति, विभागीय निगरानी समिति, उपविकास आयुक्त, जिलाधिकारी, अंकेक्षण दल आदि सभी को प्रतिशतता देते–देते, खर्च के लिए आबंटित राशि का मात्र तीस प्रतिशत बचता है। इसमें से कुछ खर्च दिखाकर शेष अंचलाधिकारी अपने लिए रख लेते हैं; क्योंकि जेल तो उन्हें ही जाना है। फिर कार्य कैसे नजर आएगा?

जाँच पदाधिकारी ने अपनी ईमानदारी दर्शाते हुए, कार्याधिक्य का बहाना बनाकर, जाँच से छुटकारा पा लिया। उनका अलिखित बयान था कि ऊपर के लोगों के विरुद्ध कैसे जाँच हो; क्योंकि गंदे पानी का स्रोत तो ऊपर है।

आलेख :

हिन्दी : सदियों से राज–काज में

शैलेन्द्र अस्थाना,
कदमा, जमशेदपुर मो0–943074557

हिन्दी शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है, एक मध्यदेशीय भाषा समुदाय के लिए, दूसरा साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी के लिए। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री सुनीति कुमार चटर्जी ने अपनी पुस्तक 'आर्यभाषा और हिन्दी' में लिखा है–''12वीं और 13वीं शताब्दी में तुर्क विजय के पश्चात् पूर्वी पंजाब से बंगाल तक के उत्तरी भारत में बोली जानेवाली भाषा का प्राचीनतम एवं सरलतम नाम हिन्दी ही है।'' हिन्दी का उद्भव और विकास क्रम के बारे में भाषा वैज्ञानिकों में जो मतभेद हो, इस बात पर कोई असहमति नहीं है कि हिन्दी के विकास की कड़ी अपभ्रंश तथा अवहट्ठ से जुड़ी है। हिन्दी के विकास के साथ और भी कितनी भाषाएँ इसके साथ विकसित हुईं और एक दूसरे से प्रभावित हुईं। जब उत्तर पश्चिमी प्रांतों में यह रेख्ता के रूप में जानी जाती थी और दक्षिणी हिस्से में हिन्दवी या हिन्दुस्तानी कहलाती थी। तब हिन्दी अपने मानक रूप में नहीं आई थी, फिर भी राज–काज की भाषा के रूप में इसका प्रयोग विभिन्न दरबारों में होता था। सम्पर्क भाषा के रूप में तो यह पहले से ही थी। इसके मानकीकरण का कार्य उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में शुरू हो गया था, जो 1873 में पूरा हो गया, जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा–''हिन्दी नयी चाल में ढली।'' तब भी पद्य के लिए हिन्दी की उपभाषाएँ जैसे ब्रज, अवधी, मैथिली आदि का प्रयोग होता रहा, किन्तु गद्य के लिए हिन्दी ही माकूल मालूम हुई। जन भाषा के रूप में यह विभिन्न क्षेत्रों की भाषाओं से प्रभावित हुई और जानी गई; जैसे बंबइया हिन्दी, दक्षिणी हिन्दी, कलकतिया हिन्दी, लखनवी हिन्दी आदि।

हिन्दी अपनी सरलता, सहजता और व्यापकता के कारण कई सौ वर्षों से भारत में राजकाज की भाषा बनती आई है, किन्तु आज के आजाद भारत की राजभाषा बनने के लिए इसे एक लंबी बहस और जद्दोजहद के कई दौर से गुजरना पड़ा है और अभी भी इसे यह मुकाम हासिल नहीं हुआ, जो एक आजाद मुल्क की राजभाषा को हासिल होना चाहिए।

भारत के विभिन्न राजघरानों तथा सरकारी अभिलेखागारों में संरक्षित दस्तावेज तथा विभिन्न विद्वानों के शोध इस बात का खुलासा कर आश्चर्य में डाल देते हैं कि सदियों से विभिन्न राजाओं, शासकों के राजकाज में हिन्दी का प्रयोग होता रहा है। डॉ. राम बाबू शर्मा ने अपनी शोधपरक पुस्तक 'बारहवीं सदी में हिन्दी' में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है–''मुझे बारहवीं शताब्दी के राजपूतकालीन दो पत्र ऐसे देखने को मिले हैं, जो क्रमशः पृथ्वीराज तथा तत्कालीन मेवाड़ नरेश अनूप सिंह के दरबार में लिखे गये थे। इनकी भाषा तत्कालीन खड़ी बोली और अवहट्ठ मिश्रित है।''

हरदेव बाहरी ने भी अपनी पुस्तक 'हिन्दी उद्भव और विकास' में यह माना है कि मुसलमान शासकों के शासन में लगभग चार–पाँच सौ वर्षों तक हिन्दी राजकाज की भाषा बनी रही, चौदहवीं सदी के प्रारंभ में अलाउद्दीन खिलजी के दक्षिण भारत के विजय के साथ वहाँ हिन्दी (हिन्दवी) का प्रचलन प्रारंभ हुआ। दक्षिण के अन्य शासकों–तुगलक, बहमनी तथा गोलकुंडा के यहाँ भी शासन में हिन्दी का प्रयोग होता था। उपलब्ध दस्तावेज बतलाते हैं कि सिकन्दर लोदी के शासन में एकाउंट (हिसाब– किताब) हिन्दी में रखे जाते थे। मुगल शासक के काल में जागीरदार अपनी लेखा (एकाउंट) हिन्दी में रखते थे। अकबर तथा उसके परवर्ती शासकों के प्रशासनिक दस्तावेज जैसे–अमल दस्तूर (नियम, कायदा), तहरीर (डाक्यूमेंट), फरद (सूची), ओहदा बही आदि की भाषा, खड़ी बोली, ब्रज, अवधी अथवा राजस्थानी है और लिपि देवनागरी है। मुहम्मद गजनी के सिक्कों पर अंकित भाषा संस्कृत तथा लिपि देवनागरी थी। इसी प्रकार मुहम्मद गोरी अलतमस, शेरशाह आदि के सिक्कों पर उनके नाम हिन्दी में अंकित हैं। हैदरअली–टीपू सुल्तान के साथ कोच्ची (कोचीन) के राजा के सन्धिपत्र में एक शर्त यह भी लिखा है कि राजपरिवार के लोगों को हिन्दी (हिन्दवी) सीखना होगा।

ये संदर्भ मध्यकाल में हिन्दी का महत्त्व और उपयोगिता को तो रेखांकित करते ही हैं, इस बात की भी ताईद करते हैं कि मुसलमान शासक चाहे वे जिस वंश के हों, उनके शासन में हिन्दी का प्रयोग राजकाज के कामों में होता था। हिन्दी जनभाषा से राजकाज की भाषा और साहित्य की भाषा बन चुकी थी, अमीर खुसरो (1253–1325) इसके प्रमाण हैं। उनके मुकरियों, दोहों और पहेलियों की भाषा लगभग वैसी ही है, जैसी हिन्दी हम आज इस्तेमाल करते हैं। यथा–

सुखरों दरिया प्रेम का, उल्टी वाकी धार।
जो उतरा वह डूब गया, जो डूबा सो पार।।(दोहा)

अर्द्ध निशा वह आया मौन, सुंदरता बरनें कवि कौन।
निरखत ही मन भयो आनंद, क्यों सखी साजन?
ना सखी चन्द।(मुकरी)

राजस्थान के अभिलेखागारों में उपलब्ध दस्तावेज तथा पेशवा के दफ्तर से मिले पत्रों से यह पता चलता है कि राजपूत तथा मराठा शासकों के आदेश, निर्देश, लेखा प्रमाण पत्र राजनैतिक तथा सैनिक समझौते, राजघरानों तथा अधिकारियों को लिखे गये पत्र हिन्दी में होते थे। ये शासक अन्य रियासतों के राजाओं के साथ भी हिन्दी में ही पत्र व्यवहार करते थे, जो आज की हिन्दी से बहुत भिन्न नहीं थी। इतना ही नहीं, राजपूत राजाओं का राजस्थान रेजीडेन्सी (अंग्रेज अफसर) के साथ लगभग 150 वर्षों का पत्र व्यवहार हिन्दी में ही था। सुदूर दक्षिण तथा उत्तर के क्षेत्रों के राज्यों में भी हिन्दी का प्रयोग होता था। काश्मीर के शासक रणवीर सिंह के समय की पुस्तक 'फौज का आइन' (कानूनों) से यह पता चलता है कि फौज का संचालन भी हिन्दी में होता था। वकील मिर्जा वाहिद बेग द्वारा सितामउ के दीवान को दिया गया 1857 की लड़ाई का रिपोर्ट हिन्दी में ही था।

रिकार्ड बताते हैं कि इस्ट इंडिया कंपनी के समय में भी हिन्दी व्यापारिक सैनिक, राजनैतिक क्षेत्रों में काम–काज की भाषा थी। 1803 में जारी एक आदेश द्वारा जनता से संबंधित सभी नियमों को हिन्दी में जारी करने के आदेश दिये गये थे। भारत आनेवाले उच्च अधिकारियों का हिन्दी और भारतीय भाषा जानना आवश्यक था। इसके लिए प्रोत्साहन तथा पुरस्कार भी दिये जाते थे। ऐसे ही एक हिन्दी वाद–विवाद प्रतियोगिता में सिविल सेवा के अफसर डब्ल्यू वटरवर्थ जो बाद में थोड़े समय के लिए गर्वनर जेनरल भी बने थे, ने 1802 में प्रथम पुरस्कार के रूप में 1500 रुपये जीते थे। रेजिडेंट सिटी मेटकॉफ ने 1806 के अपने एक पत्र में लिखा था–'हिन्दुस्तानी मेरी समझ में संसार की किसी भी भाषा की अपेक्षा व्यवहार बड़े पैमाने पर होता है। मद्रास के गवर्नर टॉमस रोकब ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये थे।

इस प्रकार राजकाज की भाषा के रूप में हिन्दी के महत्व को अंग्रेजों ने बहुत पहले ही समझ लिया था। अतः 1880 के आदेश में कहा गया कि 1881 से अदालती कार्यालय की एक मात्र भाषा नागरी में लिखी हिन्दी होगी। बिहार में तो 1875 से ही हिन्दी में कामकाज शुरू हो गया था, इस आदेश के बाद म0प्र0 में 1881 से, यू.पी. में 1900 से हिन्दी में काम शुरू हो गया। यह विडंबना है कि जो देशी रियासतें अंग्रेजों के जमाने में हिन्दी में काम करते थे, 1947 में आजादी मिलने के बाद उन्हें भी अंग्रेजी में काम करना शुरू करना पड़ा।

उपर्युक्त तथ्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि हिन्दी कामकाज में प्रयोग के लिए पूर्णतः सक्षम तथा उपयुक्त है और लंबे समय से व्यवहृत है। अतः यह कहना सही होगा कि 1950 में हिन्दी राजभाषा बनाई नहीं गई, वरन् सदियों से चली आ रही राजकाज की भाषा को नये संदर्भों में पुष्टि की गई।

आलेख :

राष्ट्रीय एकता का प्रतीक : राजभाषा हिन्दी

डॉ. मो. मिज़ाद मियाँ
बागडोगरा, दार्जिलिंग (पं.बंगाल), मो0–9733153487

भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी का अपने ही देश में दम घुट रहा है। भले ही आज देश के 80 प्रतिशत लोग हिन्दी पढ़–लिख व बोल सकते हैं ओर 95 प्रतिशत लोग हिन्दी किसी–न–किसी रूप में समझ सकते हैं, इसके बावजूद भी भारत की संसद के दोनों सदनों लोकसभा और राज्यसभा के अधिवेशनों में नेता उस भाषा का प्रयोग करते हैं, जिसकी वजह से हम अंग्रेजों के सैकड़ों सालों तक गुलाम रहे।

दुनिया की दूसरी सबसे ज्यादा बोली जानेवाली भाषा हिन्दी यदि अपने ही देश में रोजगार के अवसरों में बाधक बनी हुई है, तो इसका कारण हमारी सोच है। हम अंग्रेजी का इस्तेमाल करने में गर्व महसूस करते हैं। जापान, चीन, कोरिया और अन्य यूरोपियन देशों की तरह हमें भी हिन्दी को कार्यालयीय भाषा के रूप में स्थापित करना चाहिए। महर्षि दयानंद जी ने कहा था कि हिन्दी द्वारा सारा भारत एक सूत्र में पिरोया जा सकता है।

वर्तमान समय में हिन्दी भाषा की दुहाई देनेवाली केन्द्र सरकार के सीबीएसई बोर्ड से संबंधित स्कूलों में ही हिन्दी भाषा को सम्मान नहीं मिल रहा है। पंजाब स्कूल शिक्षा बोर्ड ने जहाँ हिन्दी को दसवीं तक अनिवार्य बनाया हुआ है, वहीं सीबीएसई बोर्ड से संबंधित स्कूलों में इसे स्वैच्छिक विषय बनाया गया है।

बंगाल में नवजागरण के अगुआ केशवचन्द्र सेन ने 1875 में कहा था कि अगर हिन्दी को भारत की एकमात्र भाषा स्वीकार कर लिया जाए, तो राष्ट्रीय एकता स्थापित हो सकती है। अभी अंग्रेज हमारे शासक हैं, वे यह होने नहीं देंगे; क्योंकि फिर भारतीयों में फूट नहीं रहेगी। केशवचन्द्र सेन की आशंका सही थी। अंग्रेज नहीं चाहते थे कि देश की एकता बनी रहे, लेकिन क्या वर्तमान केन्द्र सरकार ने हिन्दी को देश की एकता के तौर पर स्वीकार किया है

हिन्दी राष्ट्रीय सम्पर्क भाषा बन चुकी है :

भारत की भाषायी स्थिति और उसमें हिन्दी के स्थान को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी आज भारतीय जनता के बीच राष्ट्रीय संपर्क की भाषा है। हिन्दी की भाषागत विशेषता भी यह है कि उसे सीखना और व्यवहार में लाना अन्य भाषाओं की अपेक्षा ज्यादा सुविधाजनक और आसान है। हिन्दी भाषा में एक विशेषता यह भी है कि वह लोक भाषा की विशेषताओं से सम्पन्न है, बड़े पैमाने पर अशिक्षित लोचदार भाषा है, जिससे वह दूसरी भाषाओं में शब्दों, वाक्य–संरचना और बोलचालजन्य आग्रहों को स्वीकार करने में समर्थ है। इसके अलावा ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दी में आज विभिन्न भारतीय भाषाओं का साहित्य लाया जा चुका है। विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखकों को हिन्दी के पाठक जानते हैं, भारत की भाषायी विविधता के बीच हिन्दी की भाषायी पहचान मुख्यतः हिन्दी है। भारत के औद्योगिक प्रतिष्ठानों के आधार पर बने नगरों और महानगरों में भारत की राष्ट्रीय एकता और सामाजिक संस्कृति का स्वरूप देखने को मिलता है। इसी प्रसंग में कहना चाहता हूँ कि यदि हिन्दी–क्षेत्र के राज्य औद्योगिक रूप से और ज्यादा विकसित होते तो राष्ट्रीय एकता और भाषायी एकता का आधार और विस्तृत और मजबूत होता। लेकिन आज की स्थिति में भी भारत में हिन्दी की जो राष्ट्रीय भूमिका है, उतना भी उसके अंतर्राष्ट्रीय महत्व को महसूस कराने में समर्थ है।

साम्राज्यवाद ने खुद मनुष्य का जो व्यापार अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में किया, उसके फलस्वरूप भारत से बड़ी तादाद में मजदूर दूसरे देशों में ले जाए गए। मारिशस, फिजी, दक्षिण अफ्रीका के अन्य कई देश, ब्रिटिश, गायना, त्रिनिडाड, सूरीनाम, न्यूजीलैंड आदि देशों में जो बड़ी संख्या में भारतीय मूल के लोग हैं, वे मुख्यतः हिन्दी भाषी हैं अथवा यह कहें कि वे हिन्दी जानते हैं, हिन्दी पढ़ते–लिखते हैं। नेपाल, पाकिस्तान, बांग्लादेश, भूटान और म्यांमार (वर्मा) में तो स्वभावतः हिन्दी भाषी जनता की संख्या बहुत बड़ी है। आधुनिक युग में नई संचार व्यवस्था, आवागमन के नए साधनों की उपलब्धता और जीवन की नई जरूरतों से प्रेरित होकर इंग्लैंड, अमेरिका, कनाडा, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस और यूरोप के अन्य अनेक देशों में भी भारत से जा बसे लोगों में हिन्दी भाषी लोग आज रह रहे हैं। हिन्दी भाषियों को अथवा हिन्दी जाननेवालों की यह विशाल संख्या हिन्दी के अंतर्राष्ट्रीय संपर्क का साक्षात्कार कराती है। संख्या की दृष्टि से हिन्दी दुनिया की तीन बड़ी भाषाओं में एक है, शेष दो हैं अंग्रेजी और चीनी। कुछ लोग तो कहते हैं कि हिन्दी जाननेवालों की संख्या दुनिया में अंग्रेजी जाननेवालों से ज्यादा है।

आँकड़ों के खेल से अलग हिन्दी को अंतर्राष्ट्रीय भूमिका को स्थापित करनेवाले कई तथ्य और हैं और वे तथ्य ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। एक बात तो यह है कि हिन्दी भाषा के साहित्य ने पिछली एक सदी में बड़ी तेजी से विकास किया है, वह कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना तथा चिंतनपरक साहित्य के क्षेत्रों में इतनी विकसित हुई है, इतनी ऊपर उठी है कि आज वह किसी भी भाषा के श्रेष्ठ साहित्य का मुकाबला कर सकती है। प्रेमचंद, निराला, जयशंकर प्रसाद, रामचंद्र शुक्ल, राहुल सांकृत्यायन, मुक्तिबोध, नागार्जुन आदि के लेखन को अनुवाद दुनिया की विभिन्न भाषाओं में हुए हैं। इस प्रक्रिया से हिन्दी के जरिए दुनिया की जनता से भारत की जनता का संवेदनात्मक संबंध कायम हुआ है। यह संबंध रचनात्मक और संवेदनात्मक तो है ही, सांस्कृतिक विनियम का एक रूप भी प्रस्तुत करता है। विगत साहित्य में भारतीय चेतना का प्रतिनिधित्व सबसे अधिक हिन्दी ही करती है। इतना ही नहीं, हिन्दी के माध्यम से दूसरी भाषाओं के साहित्य का परिचय भी विश्व का हिन्दी–संप्रदाय प्राप्त करता है। यह एक बड़ा कारण है कि दुनियाभर में हिन्दी का अध्ययन आज वे लोग भी कर रहे हैं, जो हिन्दीभाषी या भारतीय मूल के नहीं हैं। इस प्रकार आज की परिस्थिति में हिन्दी की एक अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी विकसित हो रही है।

उपयुक्त तथ्यों और बातों से अलग अत्यन्त महत्वपूर्ण बात यह है कि आज के वित्तीय पूंजीवाद ने जो विशाल विश्व बाजार विकसित किया है, उसमें भारत का विशेष स्थान है। भारत में पूंजीवाद का विकास अवरोधों के बीच हुआ है, फिर भी देश के आजाद होन के बाद पूर्व सोवियत संघ तथा समाजवादी देशों की मदद से राष्ट्रीय पूंजीवाद का आर्थिक आत्मनिर्भरता का जो विकास हुआ। उससे भारत में एक बड़े मध्य वर्ग का विकास हुआ है, जिसकी आबादी कम से कम पच्चीस करोड़ है। अमेरिका की बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रतिनिधियों तथा उसके विचारकों और सिद्धांतकारों ने कुछ साल पहले भारत के बारे में एक सेमिनार आयोजित करके इस बात पर विचार किया था कि भारत में उनके लिए क्या गुंजाइश है। उनका निष्कर्ष यह था कि भारत मध्यवर्ग, उच्च वर्ग के पच्चीस–तीस करोड़ लोग उनके माल का बाजार बनने के लिए काफी हैं। अब यह देखें कि पच्चीस–तीस करोड़ में हिन्दी भाषियों की संख्या बीस करोड़ से कम तो नहीं है। अतः इस जनता को अपना उपभोक्ता बनाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर काम करनेवाली कंपनियों के प्रतिनिधियों एवं एजेंटों को हिन्दी सीखनी है। यदि भारत का इतना आर्थिक विकास न हुआ होता, तो हिन्दी का रुतबा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इतना न होता, जितना आज हमें अनुभव होता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपने

माल के प्रचार के लिए हिन्दी का सहारा लेना पड़ता है। हिन्दी फिल्म और इलेक्ट्रॉनिक माध्यम में हिन्दी चैनल अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी का प्रसार करके हिन्दी के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय बाजार बनाने की भूमिका अदा करते हैं। यह है हिन्दी की अंतर्राष्ट्रीय भूमिका का आधार, जिस पर खड़ी होकर हिन्दी अंतर्राष्ट्रीय संपर्क की भाषा बन रही है। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रभाव के अवशेष और अमेरिकी साम्राज्य की वर्तमान वर्चस्व के कारण यह बात फैलाई जा रही है कि अंग्रेजी विश्व या विश्व बाजार की भाषा है। यह अर्धसत्य है, सच्चाई को यों कह सकते हैं कि अंग्रेजी एक महत्वपूर्ण विश्व भाषा है और विश्व बाजार की भी एक महत्वपूर्ण भाषा है। लेकिन विश्व बाजार में संपर्क तो चीनी, जापनी, फ्रांसिसी, जर्मन, स्पेनिस के साथ ही हिन्दी के माध्यम से भी होता है। भारत के फैलते हुए बाजार और दक्षिणपूर्व एशियाई देशों के संगठन की बढ़ती हुई भूमिका की पृष्ठभूमि में हिन्दी के महत्व और भूमिका में भी बृद्धि होती जा रही है।

वैज्ञानिक तकनीकी क्रांति के इस दौर में यह उल्लेखनीय है कि वैज्ञानिक तकनीकी कर्मियों की संख्या की दृष्टि से दुनिया में भारत का तीसरा स्थान है। ये तकनीकी कर्मी दुनिया के विभिन्न देशों में काम करते हैं और हिन्दी के प्रसार की भूमिका अदा करते हैं। लेकिन इस प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय है। इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यम और कम्प्यूटर आदि के उपयोग में हिन्दी ने धीरे–धीरे अपनी जगह बना ली है। इससे एक तरफ इन माध्यमों से हिन्दी का प्रसार हो रहा है, तो दूसरी तरफ हिन्दी क्षेत्र में इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों का बाजार भी फैल रहा है। इससे हिन्दी की अंतर्राष्ट्रीय भूमिका मजबूत हो रही है। ये ही बातें हैं, जिनको ध्यान में रखकर अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने कुछ वर्ष पहले कहा कि भारत का समझना है, तो हिन्दी सीखो। यह हिन्दी के प्रति या भारत के प्रति बुश की उदारता नहीं है, बल्कि अपनी नवउपनिवेशवादी योजना को कारगर बनाने के लिए हिन्दी का उनके द्वारा इस्तेमाल किया जाना है। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि हिन्दी हमारे चिंतन की, हमारे सपनों की, हमारे प्रतिरोध की भाषा बनकर हमारी सांस्कृतिक और राष्ट्रीय स्वायत्तता की रक्षा की भाषा बनकर हमें ताकत देती है।

अंतिम बात यह है कि आज भूमंडलीकरण यानी अमेरिकीकरण के इस दौर में एशिया, अफ्रीकी और लैटिन अमेरिका के राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता, संप्रभुता और विकास के साधनों की रक्षा के संघर्ष में भारत की महत्वपूर्ण भूमिका है। इस संघर्ष में भारत की भूमिका के साथ हिन्दी भी अपनी ऐतिहासिक भूमिका अदा करेगी, ऐसी संभावना है। भारत सरकार में हावी नौकरशाही भारत एवं हिन्दी को भी अपनी सार्थक भूमिका अदा करने से रोकती है। इसके बावजूद जनता का और राष्ट्रीय जरूरतों के आग्रहों का दबाव नौकरशाही को नियंत्रित करता है और हिन्दी की अंतर्राष्ट्रीय भूमिका को उजागर करता है।

कविता :

निवेदिता चतुर्वेदी
पेंबंदी, रोहतास (बिहार)

मन

ए मन तू उदास मत हो
सुख–दुःख तो आनी हैं
कष्ट आएँगे उसे सहना होगा
फिर से तुम्हें सँभलना होगा
ए मन तू उदास मत हो
सूरज फिर से उदय होगा
कल नया सवेरा लाएगा
अपनी रोशनी से जग को जगमगाएगा
ए मन तू उदास मत हो
तुम फिर से उस प्यार को पाओगे
जो प्यार को तुमने खोया है
खोया हुआ दिन फिर से वापस आएँगे
ए मन तू उदास मत हो
तुम्हारे इस निराशा पर
आशाओं के फूल खिलेंगे
फिर से तुम्हारी जिंदगी में
नयी–नयी खुशियाँ वहार आएँगे
ए मन तू उदास मत हो।

डॉ. भावना शुक्ल,
मोतीनगर, नई दिल्ली
मो0–09278720311

अमृत की आस

ये बात
कितनी विचित्र है
कि हमारे पास
हमारे मन को छोड़कर
हर एक का मानचित्र है
मन
हमारा है
किन्तु हमारा नहीं,
कोई चारा भी नहीं,
मन आकुल–व्याकुल होता है
धैर्य खोता है
ऊबता है
कभी संशय के सागर में डूबता है
कभी लगता है
मन, मन नहीं
महासागर हो
जिसमें
अनवरत चलता है मंथन
और
निकलता हलाहल है
इसी आश में
शायद कभी अमृत निकले।

अशोक बाबू माहौर,
तहसील–अम्बाह, मुरैना, (म.प्र.)

देख बेटी

सामने
उस ओर
वट को
खड़ा, विशाल भुजाएँ
स्तम्भ–सी गाढ़ें
जमीन में।
वट के पीछे
कुछ उगा है
लाल, सुनहरा
गोलमटोल विशालाकार
जैसे गुलाल
रगड़ दिया हो
किसी ने
गाल पर।
उफ्! मुंडेर पर
चहचहाती चिड़िया
गा रही है शायद
गीत प्रभात के,
अब साफ नजर
आ रहा है
नील गगन
देख बेटी
मुझे लग रहा है
बेटी
सूरज ने
आँखें खोल लीं
किरणें दस्तक दे गई
छत पर
करती क्रीड़ाएँ
आँगन में।

श्याम अचल,
मीरजापुर, यू.पी,
07080277334

आँख की तरह है मेरी माँ

सिकुड़ गई हैं
चारो तरफ
झूर्रियाँ ही झूरियाँ
कीचर से
कोचरही हो गयी हैं आँखें
धूप, धूल, तेज हवाओं से
जीवन यात्रा में थकने से भी
आराम नहीं करती हैं
आँखें।
मेरा परिवार एक शरीर की भाँति है
शरीर में आँख की तरह है
मेरी माँ
चोट किसी को लगे
रोना इसी को पड़ता है।

आलेख

नागार्जुन की राजनीतिक दृष्टि

डॉ. सुमन
नागलोई, दिल्ली 7834870998

''गजब है सच को सच कहते नहीं वो।
कुरान ओ उपनिषद् खोले हुए हैं।'' (दुष्यन्त कुमार)

बाबा नागार्जुन जी सच की प्रतिमूर्ति थे। वो सच को सच कहने में विश्वास करते थे। उनमें हमें फक्कड़पन, अक्खड़ता, क्रांतिकारी वृत्ति, घुमक्कड़ता आदि के समावेश के कारण उनके साहित्य में समय के सामाजिक खोखलेपन से पाठक या साधारण जनता को रू–ब–रू कराने का साहस देखने को मिलता है। यही सच को सच के प्रति वे प्रतिबद्ध नज़र आते हैं–''काव्य की चिंता–व्यक्तिवादी दृष्टिकोण, प्रतिबद्धता–राष्ट्र के प्रति, सच के प्रति, जनकवि–नागार्जुन।

कवि नागार्जुन अपने साहित्य के लिए किसी नेता की पैरवी नहीं करते। वे राजनीति और साहित्य में सुविधा के सहारे जीने में विश्वास नहीं करते। डॉ0 मैनेजर पाण्डेय उनके विषय में ठीक ही लिखते हैं–''एक जनकवि के रूप में नागार्जुन खुद को जनता के प्रति जवाबदेह समझते हैं, किसी राजनीतिक दल के प्रति नहीं। इसलिए जब वे साफ ढंग से सच कहते हैं तो कई बार बामपंथी दलों के राजनीति और साहित्यिक नेताओं को भी नाराज़ करते हैं। जो लोग राजनीति व साहित्य में सुविधा के सहारे जीते हैं, वे दुविधा की भाषा बोलते हैं। नागार्जुन की दृष्टि में कोई दुविधा नहीं है.... यही कारण है कि ख़तरनाक सच बोलने का खतरा वे उठाते हैं।''[1]

नागार्जुन जी की कविता का दायरा बहुत बड़ा है। इसमें से एक बड़ा हिस्सा राजनीतिक भी है। इनकी कविताएँ आज भी प्रासंगिक ठहरती है। उन्होंने अपने काव्य में राजनेताओं की पोलपट्टी खोली है। सत्ताधारी पक्ष और विपक्ष दोनों को खरी–खोटी सुनाई है। भ्रष्ट राजनेताओं की छवि को दिखाया है। भारत देश के आजाद होने के बाद देश के विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ बनीं, लेकिन आम आदमी तक इनकी पहुँच नहीं हो पाई। नागार्जुन जी कहते हैं–''बताऊँ कैसी लगती हैं ये पंचवर्षीय योजनाएँ। इस योजना के नाम पर नेताओं ने अपनी झोली भर ली है। आम जनता से केवल झूठे आश्वासन भर दिये गये हैं। ये नेता आम आदमी को अँधेरे में रखते हैं। इन्हीं रहनुमाओं की पंचवर्षीय योजनाओं पर कवि नागार्जुन व्यंग्य करते हैं–

''बताऊँ?
कैसे लगते हैं–
दरिद्र देश के धनिक?
कोढ़ि–कुटब तन पर मणिमय आभूषण।''

इन्हीं पंचवर्षीय योजनाओं की विफलता को उजागर करते हुए प्रसिद्ध शायर दुष्यन्त कुमार भी चिह्नित करते हुए कहते हैं– ''कहाँ तो तय था चिरागां हरेक घर के लिए
कहाँ चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।''

नागार्जुनजी के काव्य में स्वातंत्र्योत्तर राजनीति को स्थान दिया है। उनकी कविताएँ जनता शासक और चापलूसी नेताओं के संघर्ष को उजागर करती है। नागार्जुन ने सामंती एवं पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध किया है। कवि देश की राजनीतिक व्यवस्था को बिगाड़ने में व्यापारी, हाकिमों, नेताओं को जिम्मेदार मानता है। चुनाव जीतने के बाद सारे किये वायदे भूल जाते हैं और इन्हें आम आदमी के पेट की भूख की चिंता नहीं रहती। कवि यहाँ आम जनता के समक्ष नेताओं की साँठ–गाँठ की पोलपट्टी खोलकर रख देने में भी नहीं हिचकिचाते और कहते है–

''खादी और मलमल ने अपनी साँठ–गाँठ कर डाली है
बिड़ला टाटा डालमिया की तीसों दिन दिवाली है।''

इसी राजनीतिक साँठ–गाँठ ने ही देश को जाति–पाँति या भेद भाव के आधार पर देश को बाँटकर रख दिया है। इसी भ्रष्ट राजनीति पर कवि रघुवीर सहाय अपनी कविता 'नई हँसी' में इस प्रकार करते हैं–

''राष्ट्र को महासंघ का यह संदेश है
जब मिलो तिवारी से–हँसो–क्योंकि तुम भी तिवारी हो।
जब मिलो शर्मा से–हँसो–क्योंकि वह भी तिवारी है।
जब मिलो मुसद्दी से–खिसियाओ
जात–पाँत से परे रिश्ता अटूटा है–राष्ट्रीय झेंप का।''

राजनीतिक विसंगतियों पर तीखी टिप्पणियाँ करनेवाले कवि नागार्जुन ने किसी को भी नहीं बख्शा। कवि सामाजिक हितों और विचारों के निमित्त है। नागार्जुन इसी राजनीति की भ्रष्टता पर व्यंग्य करते हैं–

''राजनीति क्या है नाप सकेगी अन्नब्रधा की माया।
कूटनीति क्या है भाँप सकेगी अन्नब्रधा की माया।।''

परिहास वृत्ति नागार्जुन के व्यंग्य की जान है, इसी वृत्ति पर प्रसिद्ध आलोचक डॉ0 नामवर सिंह जी ने इस विषय में कहा है–''कबीर के बाद हिन्दी कविता में नागार्जुन से बड़ा व्यंग्यकार अभी तक कोई नहीं हुआ। नागार्जुन के काव्य में व्यंग्य के इतने चित्र हैं कि उनका एक विशाल अलबम तैयार किया जा सकता है। व्यंग्य की जितनी मार्मिकता तथा तीखापन नागार्जुन की कविताओं में है, उतना अन्य किसी प्रगतिवादी कवि में नहीं है।''[2]

नागार्जुन जी के कवि हृदय ने झूठे राजतंत्र पर भी कड़ा व्यंग्य किया है। लोकतंत्र तो बस नाममात्र ही रह गया है। यह तो सिर्फ कागज़ी ही है। यहाँ संविधान पर अमल पूर्णतः नहीं किया जा रहा है, वे आजादी पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं–

''कागज की आजादी मिलती
ले लो, दो–दो आने में।''

और इसी प्रकार संविधान पर भी नागार्जुन जैसे तीखे तेवर रखनेवाले गज़लकार दुष्यन्त कुमार अपने एक शेर के दौरान कहते हैं–''सामान कुछ नहीं, फटे हाल है मगर
झोले में उसके पास, कोई संविधान है।''

इस हालत में यह संविधान भी कोई मायने नहीं रखता, जबतक उसे पूर्णतः व्यवहार में ना लाया जाए। आज भी सिर्फ कागज़ी रूप में हमें जीवन जीने का, समानता का अधिकार तो मिला है, परन्तु क्यों आज भी रामदास जैसे बेकसूर व्यक्ति की दिनदहाड़े नृशंस हत्या होती है और भ्रष्टाचार के खिलाफ आवाज उठानेवाले को हमेशा की नींद सुला दिया जाता है। आज भी हमें नागार्जुन जी को 'प्रेत का बयान' जैसी कविताएँ भ्रष्ट नेताओं की कूटनीति पर सोचने–विचारने पर मजबूर करती हैं। इस प्रकार बाबा नागार्जुन जी का कवि और व्यंग्यकारी हृदय भ्रष्ट नेताओं, भ्रष्ट राजनीति, भ्रष्ट कूटनीति, खोखले लोकतंत्र, अर्थहीन आजादी, झूठी क्रांति और असफल योजनाओं पर आदि की पोलपट्टी आम जनता के समक्ष खोलकर रखते हुए जागृत करता प्रतीत होता है। उनकी काव्य में राजनीति और सामाजिक स्थिति में बदलाव की आकांक्षा के स्वर गुंजायमान हैं। अतः यहाँ बाबा नागार्जुन जी का जनकवि का हृदय साफ झलकता है।

''जनकवि हूँ क्यों चाटूँगा थूक तुम्हारी
श्रमिकों पर क्यों चलने दूँ बंदूक तुम्हारी।।''

संदर्भ सूची–1.नागार्जुन प्रतिनिधि कविताएँ : नागार्जुन (भूमिका), नामवर सिंह, पृष्ठ संख्या 8, राजकमल पेपरबैक्स
2.वही, पृ0 सं0 9

लघुशोध

मीरा की विरहानुभूति

डॉ. संजय बी. आसोदरिया
हिन्दी विभागाध्यक्ष
महिला कॉलेज, राजकोट (गुजरात) 09586505380

मध्यकालीन कृष्णभक्ति शाखा के कवियों में राजस्थान की कवयित्री मीराबाई का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। अपनी भक्तिभावपूर्ण प्रेमाभिव्यक्ति ने मीरा को हिन्दी और गुजराती की मूर्धन्य कवयित्री बना दिया। महामहीयसी मीरा की रचनाएँ भारतीय साहित्य की सर्वोत्तम उपलब्धि है। मीरा के विरह में रेखाबद्ध तर्क के स्थान पर हृदय में झटका देनेवाली बिजली है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जो प्रेम में अपना दिल, घर जला सके, वे ही मीरा के साथ संबंध–तंतु बाँध सकता है। मीरा दो अक्षर के इस नाम में ऐसा जादू है कि उच्चारण करते ही दर्द और विरह का सागर उमड़ पड़ता है। मीरा कृष्ण प्रेम में ऐसी दिवानी हुई थी कि मीरा कृष्ण का द्वैत ही नहीं था।

मीरा के पदों को लेकर उसकी प्रामाणिकता– अप्रमाणिकता को लेकर विद्वानों में सदैव एक विवाद रहा है, पर मीरा की अनन्य भक्ति भावना के आगे ये बातें फीकी और फिजूल–सी लगेगी; क्योंकि अगर मीरा को पाना है, मीरामय होकर कृष्ण को पाना है तो श्याम रंग में डूबकर अपने अस्तित्व को मिटाना पड़ेगा, अहं को गलाना पड़ेगा। मीरा युग अर्थात् मध्यकालीन युग में सामाजिक परंपरा काफी सख्त थी, विशेषतया नारी के लिए। मीरा राजघरानों से रिश्ता रखती थी। इसीलिए भक्ति के लिए परिवार छोड़ना उनके लिए बहुत मुश्किल था। मीरा को चहारदिवारी से बाहर निकलने के लिए भी संघर्ष करना पड़ा था। मीरा ने अपने कृष्ण को पाने के लिए काफी दुःख भी झेले थे। कृष्णभक्ति रस से सराबोर मीरा ने अपने समग्र जीवन को कृष्णमय बना दिया। मीरा भक्तिरस में आकंठ डूब गई। मीरा का प्रेम भक्ति से ओत–प्रोत हृदय अपने अनन्य प्रियतम कृष्ण को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त व्याकुल हो उठा है, कृष्ण के बिना मीरा का जीना अब मुश्किल हो गया है। यही विरह की तीव्र तपन मीरा के पदों में मिलती है। प्रस्तुत आलेख में मीरा की इसी विरह वेदना को उद्घाटित करने का विनम्र प्रयास है।

गिरिधर गोपाल के अभाव में मीरा अपने प्राणों को बचाये रखने में असमर्थ थी। प्रियतम का मिलन ही जीवन का संबल है। रात की नीरव घड़ियों में खुली आँखों से प्रियतम की प्रतीक्षा करती हुई मीरा गाती है–

'सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिया को पंथ निहारत, सब रैन बिहानी हो।।'[1]

प्रेम दिवानी मीरा प्रियतम की प्रतीक्षा करते–करते व्याकुल हो उठी है। मीरा का हृदय वियोगाग्नि में जल रहा है और कोई उनके दुःख को नहीं पहचान सकता। उनकी पीड़ा को समझनेवाला इस संसार में कोई नहीं है। मीरा स्वयं इसका समाधान देते हुए कहती हैं–

'को विरहिणी का दुःख जाणै है।
जो घट बिरहा सोई लखहै कै कोई हरिजन मानै हो।।'[2]

मीरा विवाहिता होकर भी अलौकिक प्रिय के प्रेम में वियोगिनी बनी रही। मीरा के अनेक पदों में विरह–वेदना प्रकट हुई है। अपनी विरहानुभूति को व्यक्त करती हुई कहती है–

'रमैआ बिन नींद न आवै।
नींद न आवै बिरह सतावै, प्रेम की आँच दुलावै।।'[3]

तथा– 'होली पिया बिन लागै खारी।
सूनो गाँव देस सब सूना, सूनी सूज अटारी।।'[4]

विरह की तीव्रता उत्कट भक्ति की कसौटी है। मीरा के गीतों में यह विरहात्मक भाव स्वाभाविक है। मीरा का मन कृष्ण वियोग से व्याकुल हो उठा है। उनके संतप्त दिल के उद्गार मीरा की विरहानुभूति की अमूल्य निधि है। सारा संसार रात के अंधकार में सुख की नींद सो रहा है, तब विरहिणी मीरा की आत्मा प्रियतम की याद में आँसू बहा रहा है। उनके लिए एक–एक पल भारी पड़ रहा है। मीरा रात का वक्त सितारे गिन–गिनकर काटती है। अपनी विरहाग्नि को व्यक्त करते हुए गाती है–

'मैं विरहिणी बैठी जागूँ, जगत सब सोवै री आली।।
बिरहिणी बैठी रंगमहल में, मोतियन की लड पोवै।
इस बिरहिणी हम ऐसी देखी, असुँवन की माला पोवै।।
तारा गिन–गिन रैन बिहानी, सुख की घड़ी कब आवै।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, मिल के बिछुड़ न जावै।।'[5]

मीरा के अधिकांश पद प्रणय मूलक ही है, जिनमें विरह भावना के पद अधिक हैं। हम कह सकते हैं कि मीरा के पद निश्छल प्रेम विरह से उत्पन्न पीड़ा का, वियोग की आह का दस्तावेज है, जिनमें कल्पना न होकर अनुभूति का सच्चा आवेग है। मीरा को अपने प्रियतम के बिना चैन नहीं पड़ता मीरा को श्याम का विरह प्रतिपल सताता है। विरह की ज्वाला उसके सर्वांग को जलाने लगती है। कृष्ण–मिलन के लिए व्याकुल 'मीरा जल बिन मछली' की तरह छटपटाती है। मीरा को न भोजन अच्छा लगता है, न रात को नींद आती है। इस बीच प्रिय की प्रतीक्षा करते–करते ही बैरिन रात बिताती मीरा गा उठती है–

'घड़ी एक नहीं आवड़ै, तुम दरसण बिन मोय।
तुम हो मेरे प्राण जी, का सूँ जीवन होय ।।
धन न भावै नींद न आवै, विरह सतावे मोई।
घायल सी घूँमत फिरूँ रे, मेरो दरद न जाणै कोई।'[6]

कृष्ण विरह में मीरा वैसे भी आकुल–व्याकुल है, ऊपर से कोयल की आवाज उनके विरह व्यथा को और भी उद्दीप्त कर रही है। वे कृष्ण मिलन के लिए वन–वन घूमती फिरती है। इस असह्य विरह संताप से मुक्ति पाने हेतु मीरा काशी जाकर करवत चलाकर प्राण त्यागना चाहती है–

'आबा की डाली कोइल इक बोले, मेरो मरण अरु जग केरी हाँसी।
बिरह की मारी मैं बन–बन डोलूँ, प्राण तजूँ करवत ल्यूँ कासी।।'[7]

मीरा प्रियतम श्याम के विरह में बावली बनी हुई है। वे असह्य वेदना के कारण अपनी सारी सुध–बुध खो बैठी है। तृषित चातक जैसे स्वाति घन के लिए बिलखता है, वैसे ही मीरा अपने श्याम के लिए बिलख रही है। मीरा अपनी व्यथा को प्रकट करती हुई गाती है–

'अंतर वेद विरह की, म्हारी पीड़ न जानी हो।
ज्यों चातक घन को रहै, मछरी जित पानी हो।
मीरा व्याकुल बिरहिणी, सुध–बुध बिसरानी हो।'[8]

विरह एक प्रकार का वरदान है। 'मेरा दरद न जाणै कोय' में तो मीरा की अकथ्य वेदना और भी घनीभूत हो गई है। 'जोगिया' की प्रतीक्षा करते–करते बहुत दिन बीत गये, परंतु अभी तक नहीं आया। मीरा के दिल में मिलन की उत्कट लालसा निरंतर दहक रही है। पद–पद में करुण रागिनी मीरा का स्वर इस प्रकार सिसक उठा है–

'जोगिया कूँ जोवत बोहो दिन बीत्या, अजहूँ आयो नहिं।
विरह बुझावन अन्तरि आवो, तपन लगी मन माहिं।'[9]

मीरा के दर्द की दवा किसी के पास नहीं है। मीरा कहती है कि 'घायल की गति घायल जाने' मीरा का दर्द तो तभी मिटेगा, जब स्वयं साँवरिया वैद्य बनकर आएगा। मीरा अपने मनोभावों को व्यक्त करते हुए गाती है–

'जौहर की गति जौहर जाने, कि जिन जौहर होय।
दरद की मारी वन वन डोलूँ, वैद मिला नहिं कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटेगी, जब वैद साँवरिया होय।'[10]

इस प्रकार मीरा के हृदय की वेदना से जो मर्मस्पर्शी काव्याभिव्यक्ति मीरा के पदों के रूप में हमें प्राप्त हुई हैं, इसके आधार पर यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि मीरा ने अपने अंतर्मन के विरहानल की तीव्र ऊर्मियों से अत्यन्त पवित्र बना दिया है। हृदय की वास्तविक अभिव्यक्ति का मूल तो उत्कट प्यास या पीड़ा ही है। 'शोकः श्लोकत्वं आगतः' संस्कृत काव्य के प्रथम प्रणेता आदि कवि वाल्मीकि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। मीरा ने शाश्वत पिया कृष्ण के विरह में निकली मीरा के हृदय की काव्यांजलि सचमुच में प्रत्येक काव्य रसिक के हृदय को स्पर्श कर जाती है। मीरा की व्याकुलता को स्पष्ट करते हुए प्रो. रामेश्वर प्रसाद शुक्ल लिखते हैं–'मीरा की वेदना युग–युग से बिछड़ी हुई प्रीतिदग्ध प्रणयाकुल आत्मा की वेदना है।'[11] वास्तव में मीरा के हृदय में उमड़ती विरह वेदना को आत्मसात करने के लिए आज मीरा जैसा विशुद्ध हृदय विकसित करने की आवश्यकता है। मीरा बनकर ही मीरा को समझा जा सकेगा।

1. मीरा पदावली, सं. परशुराम चतुर्वेदी, पृ. 126
2. मीरा, डॉ. राजेन्द्र मोहन भटनागर, पृ. 49
3. साहित्यिक निबंध, गणपतिचन्द्र गुप्त, पृ0 687
4. वही
5. मीरा पदावली, डॉ. शम्भुसिंह, मनोहर, पृ. 156
6. वही, पृ. 47
7. वही, पृ. 140
8. वही, पृ. 157
9. वही, पृ. 123
10. वही, पृ. 142

कल्पना मिश्रा बाजपेई
कानपुर (यू.पी.)
मो0–9455878280

आपको सुन रहा था

थोड़ा सा अपनापन...
मैं सोचती हूँ जब कभी...
तू रात को मेरी गोदी में
दुबक कर चैन की नींद
सो जाता है....
तब तुझे मैं आंशिक रूप से
गोदी में उठाकर
कश्मीर से कन्याकुमारी तक
हर मंदिर में करवाती हूँ दर्शन
और माँगती रहती हूँ तेरे उन्नत
भविष्य की मन्नत
जब तू सोता है दुबक कर
मेरी गोदी में रात को...
आ जाओ अब बैठो मेरे पास
देख लूँ तुझे जी भरकर, ताकि
जी सकूँ चैन से उम्र भर
क्योंकि मुझे मालूम है कि
संसार की आपा–धापी से तू भी
अछूता नहीं बचेगा
तू स्वस्थ रहे और व्यस्त भी रहे
इन सबके बीच में भी
मैं तलाश लूँगी अपने सकून को
बस डर तो इस बात का है कि
तू कहीं पराया न हो जाए
बच्चों का परायापन ही तो
सालता रहता है नासूर की तरह
बूढ़े माँ बाप के कलेजे को
आखिर उन्हें क्या चाहिए
धन दौलत तो बिल्कुल नहीं
बस थोड़े से अपनेपन की
उम्मीद करते हैं माता–पिता अपनी
औलाद से और ज्यादा कुछ नहीं
क्या तू मुझे अपनापन.....

हरेन्द्र कुशवाह 'कन्नौजी',
अहमदाबाद, गुजरात
9737704309

तुम्हें बदलता रहा हूँ

कि मेरा अपना तजुर्बा है,
तुम्हें बतला रहा हूँ मैं
अकिंचित भाव मन में है,
उन्हें ही गा रहा हू मैं
मोहल्ले की जो गुड़िया है,
बाज़ारू चीज बन बैठी
वह फिसली जमाने में,
जो बेटी थी बड़ी जेठी
मुहब्बत की नक़ाबे है,
यह तो व्यापार पुराना है
मेरा इस गंदी बस्ती से,
कब से आना जाना है
अनुभव ले लेकर सब,
तुम में बाँटा करता हूँ
अक्सर रातों को भी मैं,
सैर सपाटा करता हूँ
कहाँ पसंद हूँ सूरज को,
दिनभर जलता फिरता हूँ
चंद लोग जो मेरे जैसे,
उन्हें ही भा रहा हूँ मैं
कि मेरा अपना तजुर्बा है..
बड़ी तहज़ीब संसद में,
सराफत आज कल दिखती
अश्लीलता के संग संग,
कबड्डी जोर से खिलती
कलम कागज़ संग सारी रात,
मेरा ईमान रोता है
सागर भर आते पलकों में,
गन्दा यह मन्दिर होता है
निराश परी छल लेती है,
मेरे अन्तर मन ज्ञानी को
जो मन रो रहा बैठा,
उसे फुसला रहा हूँ मैं
की मेरा अपना तजुर्बा है....

–सूर्यप्रकाश मिश्र
खोजवाँ (दुर्गाकुंड), वाराणसी
09839888743

रंगा सियार

रमई काका बाँच रहे हैं
सट्टी पर अखबार
लिखा बढ़ेगी विधवा–पिन्सिन
जी जायेगी कुछ दिन समधिन
कब से है बीमार
घूरे से बिजली निकलेगी
सारी–सारी रात जलेगी
चमकेगा घर–बार
अब आयेंगे नये मवेशी
नहीं रहेगा कोई देशी
भैंसा हो या साँड़
नये बीज से होगी खेती
दूनी हो जायेगी चैती
होगा धनी कुवार
गाँव–गाँव स्कूल चलेगा
खाना दूनो जून मिलेगा
पसिज गई सरकार
तभी बोल बैठे इनरासन
छपा हुआ है जिसका भाषण
वो है रंगा सियार।

टोला के पाहुन

जोह रहा है टोला पाहुन के आने की बाट
खुश है मड़ई आज बनेगा मड़ई में भी भात
बापू के हिस्से बाजार की आलू–गोभी
गँहकी की चादर ले आये जोखन धोबी
बिछी हुई बन ठनकर खटिया ढककर सारी बात
मँहगू की दुलहिन ने दी है नवकी साड़ी
गोड़ धर रही डर–डर कर माई बेचारी
आदत ऐसी पोछ न डाले आटेवाला हाथ
गाँछ नीम की ढलता सूरज छेक रही है
दीदी छिपकर दूर सड़क तक देख रही है
डीह दुहाई आन्ही–पानी कर ना दे उत्पात
छोटकी दीदी ने रीबन का फूल गढ़ा है
सिर में तेल लगाये बुधुवा अलग खड़ा है
दोनों के स्कूल ड्रेस ने खूब निभाया साथ

समीक्षा :

फांस

संजीव

डॉ. एन.आर.श्याम
अदिलाबाद (तेलंगाना) मो.–8179117800

किसान की आत्महत्याओं की ही नहीं, बल्कि इसके विरुद्ध संघर्ष की कहानी

'2005 के सेप्टेम्बर में सरकार का आर्डर हुआ है कि पोस्टमार्टम केन्द्र चौबीसो घंटे खुले रखे जाएँ।'

यह संवाद है संजीव के नवीनतम उपन्यास 'फांस' का, जो महाराष्ट्र के विदर्भ अंचल में किसान आत्महत्याओं को लेकर लिखी गई है। उपर्युक्त संवाद उसका एक पात्र नाना बापटराव शंकरराव मजाक में कहता है। पर मजाक में कही हुई बात ही यह बताती है कि विदर्भ में किसान आत्महत्या कितनी आम बात हो गई है और यही ख़ासियत है संजीव की अपनी बात को कहने की।

विदर्भ के यवतमाल जिले के एक गाँव बनगाँव। उसमें हँसता–खेलता एक किसान परिवार। पति शिबु, पत्नी शकुन और दो जवान बेटियाँ–छोटी कलावती और बड़ी सरस्वती। ...एक जोड़ी बैल में से एक के मर जाने पर कठिन जीवन संघर्ष में जग हँसाई के बीच, हल में एक तरफ बैल तो दूसरी तरफ भैंस बाँधकर जुताई। ...जमीन के कर्ज से छुटकारा पाने के लिए और और पैसों की जरूरत पड़ने पर बैंक में ही पत्नी के गले से चाँदी की हँसुली निकाल कर्ज चुकानेवाला परिवार। ...सारे परिवार का अपने–आपको खेती के काम में झोपना। ..पर उनकी यह कर्मठता, परिवार के कर्ता–धर्ता शिबु को आत्महत्या से नहीं बचा पाती है। कर्ज चुकाने से बुरी तरह अस्त–व्यस्त उनकी आर्थिक अवस्था, एक ही सीजन में तीन बार बोये बीजों के नष्ट हो जाने से आहत और ब्राह्मणवादी व्यवस्था का शिकार शिबु कुँए में कूदकर आत्महत्या करता है।

यह है आज के भारतीय किसान की दयनीय हालत। वह देश की रीढ़ की हड्डी है। वह अन्नदाता है। पर सबसे बड़ी विडंबना यह है कि सबका पेट भरनेवाला यह किसान स्वयं भूख से तड़पता हुआ आत्महत्या करने पर मजबूर हो रहा है।

यह रोंगटे खड़े कर देनेवाली बात है कि आज भारत में अबतक तीन लाख से ज्यादा अन्नदाताओं ने अपने आपकी आत्महत्याएँ की हैं। आये दिन आत्महत्याएँ की खबरें देश के विभिन्न हिस्सों से आ रही हैं। अन्नदाताओं को इसी हृदयविदारक, रोंगटे खड़ी कर देनेवाली परिस्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण किया है संजीव ने अपने इस उपन्यास में।

जैसे कि पहले बताया जा चुका है, उपन्यास की भूमि महाराष्ट्र का विदर्भ अंचल है, जहाँ अबतक भारत में सबसे ज्यादा किसानों ने आत्महत्याएँ की हैं।

उपन्यासकार ने वहाँ की दुर्दशा को बताने के लिए कुछ परिवारों को चुना है। ...प्रायः ऐसे परिवार जिसका कोई न कोई सदस्य आत्महत्या का शिकार हुआ है। ऐसा ही एक परिवार है नागौर के सुनील का। सुनील यानी शिबु के रिश्ते से भाई यानी छोटी और सरस्वती का काका। पच्चीस एकड़ जमीन का मालिक। बहुत ही प्रभावशाली व्यक्तित्व। हमेशा सबको हिदायत देता था, कर्ज न लेने के लिए। कहता था किसान एक बार कर्ज लिया तो वह फिर बाहर नहीं निकल सकता है। यह उसके लिए फांसी का फंदा है। परन्तु सबको हिदायत देनेवाला वही सुनील अपने बेटे विजेन्द्र को अमेरिका भेजने के लिए, स्वयं के ट्रैक्टर का मालिक बनने के लिए, बहुत ही लाभार्जन के लोभ में कर्ज के चक्रव्यूह में फँस जाता है। भयंकर सूखे के कारण, भूजल स्तर से नीचे चले जाने से खेत के बगल वाले नाले और पम्प दो–दो कुओं के पूरी तरह सूख जाने के कारण, अपने पच्चीस एकड़ ही नहीं, बल्कि अपने भाई पाटिल के पच्चीस करोड़ खेत यानी पूरे पचास एकड़ खेत में लगाए गये विभिन्न तरह के फलों के बाग और अन्य फसलों के सूख जाने से, बीटी बीजों के बाँझ बन जाने से असह्य हो आत्महत्या करता है।

इसके द्वारा उपन्यासकार यह भी बताता है कि मध्यम वर्गीय किसानों का आधुनिक लक्जरी वस्तुओं के प्रति आकर्षण, रातोंरात मालामाल बन जाने का सपना उन्हें कर्ज की तरफ ढकेलता है और आज हकीकत यह है कि जितनी बड़ी खेती, उतना ज्यादा नुकसान और यही उनके गले का फंदा बनता है। जबकि आदिवासी आत्महत्या नहीं करता है; क्योंकि उनके पास ये सपने नहीं होते हैं। उसपर महानता का बोध नहीं है। किसी भी हालत में छोड़ दो, जी लेता है। मध्यमवर्गीय किसानों पर यह बाजारवाद का प्रभाव है।

यहाँ किसानों के लिए एक तरफ प्राकृतिक विपदा है, तो दूसरी तरफ कर्ज की अदायगी की समस्या। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से इतने वर्ष बीत गये हैं, परन्तु सरकार अभी तक बराबर पानी के सिंचाई की व्यवस्था नहीं कर पायी है। नदी–नाले सूख चले हैं, जमीन में पानी निचली सतह में चला गया है। खड़ी फसल बिना पानी के सूख जाती है। फिर से बीज बोने के लिए पैसे चाहिए। ...बैंक वाले दो–बार लागों को ही कर्ज देकर हाथ झाड़ लेते हैं। विकल्प बचता है तो वह है स्थानीय सेठ–साहुकार। मजबूरी में फिर से कर्ज लेते हैं। दस रुपये सैकड़ा तक ब्याज दर पर। ऊँचे दामों पर बीज खरीदते हैं, रासायनिक खाद खरीदते हैं, कीटनाशक दवाएँ खरीदते हैं। प्राकृतिक विपदा, सूखा, अधिक वर्षा, ओले आदि के कारण फसल नष्ट हो जाते हैं। अगर किसी तरह बचती है तो तरह–तरह के कीटों, टिड्डियों का आक्रमण। ...उससे भी पार लगे तो बंदर, भालू और सूअरों जैसे जंगली जानवरों के चलते बरबाद। इसके बाद भी बचकर फसल हाथ में आती है, तो कोई खरीददार नहीं। मंडी लेकर गये तो सेठ साहूकारों की मिलीभगत। कोई माल नहीं उठाता है। मिट्टी के मोल पर बेचने को मजबूर हो जाते हैं। कर्जदार तंग करता है। इसी बात का खुलासा किया है उपन्यासकार ने।

आत्महत्या का शिकार हुआ और एक परिवार। ... गाँव अमला, पति सुरेश, पत्नी आशा और बच्चे अजंता, एलोरा। तीन– तीन साल तक फसल बर्बाद होने से गले तक कर्ज में डूबा परिवार। बरबादी के बाद हाथ लगा केवल डेढ़ क्विंटल कापूस यानी कपास और आधा क्विंटल सोयाबीन। मंडी ले जाता है सुरेश। कॉटन फेडरेशन और सी.सी.आई के कपास केन्द्र खुलते नहीं है। चार–चार दिन तक इंतजार। प्राइवेट व्यापारी औने–पौने दाम पर पूछते हैं। इतनी मेहनत से पैदा किये गये उत्पादन को उस कीमत पर देने का उसका मन नहीं मानता है। ले आता है गट्टर गाँव लौटनेवाले एक मिनी ट्रक में डलवाकर। पटक देता है घर के सामने। रात में धुँआधार बारिश। सारा कपास भींगकर बरबाद। ... और हर तरफ से हताश उसकी पत्नी आशा वानखेड़े करती है आत्महत्या। कीटनाशक दवा सल्फास पीकर। यह है महिला शेतकरी की लोमहर्षक आत्महत्या। पर सरकारी अधिकारियों द्वारा यह आत्महत्या भी अपात्र घोषित की जाती है; क्योंकि वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आत्महत्या का कारण तीन–तीन बरस तक खेती का बर्बाद होना नहीं, बल्कि पति ने दारू पीकर पत्नी के साथ झगड़ा करना है।

किसानों की आत्महत्या करने पर सरकार मुआवजे के तौर पर एक लाख रुपये पीड़ित परिवार को देती है। हजारों किसान आत्महत्या कर रहे हैं। पर सरकार उन्हीं आत्महत्याओं को ही मात्र मानती है, जिनके ऊपर बैंक का कर्ज है। बैंक का कर्ज बहुत कम लोगों को मिलता है। अधिकांश लोग तो सेठ–साहुकारों से ऊँची सूद की दर पर ऋण लेते हैं। आत्महत्या करनेवाले ऐसे ही किसान ज्यादा हैं। पर उनकी आत्महत्याओं को अपात्र घोषित किया जाता है। बैंक से कर्ज लेनेवाले सभी किसानों के परिवार को भी मुआवजा नहीं मिलता है। कभी इसे पति–पत्नी का झगड़ा बताया जाता है, कभी किसी बीमारी से ग्रस्त होकर की गयी आत्महत्या बताया जाता है, तो कभी और कुछ। ...यही घिनौनापन दर्शाता है शिबू और आशा की आत्महत्या का प्रसंग।

गन्ने की खेती पर आत्महत्या करनेवाले किसानों का एक उदाहरण–शक्कर फैक्टरी का मालिक, माधव से गन्ने की खेती करने के लिए कहता है। बहुत ही लुभावने सपने दिखलाता है। खुद ही आकर फसल ले जाने का वादा करता है। खेती के लिए उसे कर्ज देता है। पर फसल तैयार होने पर नहीं आता है। पश्चिम महाराष्ट्र और विदर्भ की गन्ना लॉबी में टकराव के कारण उसकी

फैक्टरी बंद हो जाती है। किसान नि:सहाय–सा हो जाता है। आँखों के सामने भी सारे खेत को सूखते हुए देखता रहता है। कर्ज के भार से वह लद जाता है। नि:सहाय–सा माधव खून–पसीना एक करके पैदा किये गये गन्ने की फसल को आग लगा देता है। सारा खेत धू–धूकर जलने लगता है। वह भी जलते खेत में जाकर जलकर मर जाता है। यह है गन्ने किसान का लोमहर्षक अंत।

फैक्टरी मालिक के लिए फैक्टरी बंद होने का छियासठ हजार करोड़ मुआवजा घोषित करती है सरकार। वहीं पर खेत बर्बाद हुए प्राण त्यागनेवाले किसान के परिवार को मिलता है मात्र एक लाख रुपये का मुआवजा। यह है विडंबना। यह रोंगटे खड़े कर देनेवाली बात है कि विदर्भ में इस तरह गन्ने की खेती करनेवाले एक ही सीजन में छ: किसान आत्महत्या करते हैं। इस तरह आत्महत्या करनेवाले किसानों की लोमहर्षक, दिल को दहला देनेवाली घटनाओं से भरा है यह उपन्यास। आत्महत्या करनेवाले अलग–अलग परिवार के व्यक्ति, अलग–अलग गाँव के व्यक्ति। पर इन सबको सफलतापूर्वक एक सूत्र में जोड़ा है संजीव ने इस उपन्यास में।

'फांस' की टिप्पणी में मैनेजर पांडे ने लिखा है कि 'यह उपन्यास प्रेमचंद के कथा साहित्य की प्रगतिशील परम्परा का विकास है।' ...यह सच है प्रेमचंद के गोदान का किसान होरी, अभाव में ब्राह्मण को गोदान न कर पाने की असमर्थता बोध से प्राण त्यागता है, वहीं पर संजीव का किसान शेतकरी आंदोलन में बाघ की तरह दहाड़नेवाला मोहनदास बाघमारे गले में रस्सी बाँध स्वयं गाय बनकर जीता है। दोनों के किसान ब्राह्मणवादी शोषक व्यवस्था के प्रतीक हैं।

इस तरह उपन्यासकार बताता है कि विदर्भ के गाँव किस तरह श्मशान भूमि में बदलते जा रहे हैं। विदर्भ ही नहीं, विदर्भ को केन्द्र में रखकर उन्होंने तेलंगाना, आंध्रप्रदेश, गुजरात, बुंदेलखंड सभी जगह के किसानों की दुर्दशाओं को बताने का प्रयास किया है। यही नहीं देश की सीमा लाँघकर वह सात समुंदर पार अमेरिका के किसानों के पास पहुँचता है। वह बताता है कि वहाँ के किसानों की भी यही दुर्दशा होती, अगर सरकार से उन्हें अरबों डालरों की सब्सिडी नहीं मिलती। यह बात इसलिए भी प्रासंगिक है; क्योंकि एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में सरकार समाज के कमजोर वर्ग के लिए 251397 हजार करोड़ और कारपोरेट सेक्टर के लिए 590000 हजार करोड़ की सब्सिडी देती हैं। इस कमजोर तबके में ग्रामीण और शहर के लोग भी है। दोनों की इतनी बड़ी आबादी को मिलाकर दी जानेवाली सब्सिडी कारपोरेट सेक्टर को दी जानेवाली सब्सिडी से आधे से भी कम है, जबकि कारपोरेट सेक्टर की जनसंख्या का एक प्रतिशत भी नहीं है। कृषि पर आधारित होकर जीनेवालों की संख्या आबादी का 70 प्रतिशत है। अब इसी से अंदाजा लगाया जा सकता है कि इन्हें कितनी सब्सिडी मिल रही है। ऊपर से कृषि द्वारा आयी आमदनी को फिर से औद्योगिक क्षेत्र में झोंका जा रहा है। इसी से पता चलता है कि कृषिप्रधान देश भारत में कृषि का क्षेत्र कितना उपेक्षित है। यही किसानों के संक्षोभ का एक बड़ा कारण है।

पर उपन्यासकार यहीं पर नहीं रुकता है। वह केवल किसानों की दुर्दशा और लोमहर्षक आत्महत्याओं को बताने तक नहीं सीमित रहता है। इस श्मशान भूमि में भी वह आग ढूँढ़ता है और वह आग है छोटी यानी कलावती, जिसका बाप शिबु आत्महत्या कर चुका है, जिसकी शादी एक ऐसे देहात में होती है, जहाँ बिजली तक नहीं है। पर वह बिजली की तरह उतनी ही तेज–तर्रार है कि पैंसठ वर्ष बाद गाँव जाने में सफल होती है। परन्तु जब उसकी यह योग्यता, यह समर्थता, ससुरालवालों को बर्दाश्त नहीं होता है तो वह उनकी मर्जी के अनुसार खूँटे से बँधे रहने के बजाय सब कुछ त्यागकर बाहर आ जाती है, फिर से कभी वापस न लौटने का निर्णय कर। ... अपने मायके आकर किसानों के संघर्ष में शामिल हो, उनकी सहायता के लिए स्वयं कृषि अनुसंधन केन्द्र की स्थापना करती है।

दूसरी आग है उसकी माँ शकुन, जो पति की आत्महत्या और दोनों बेटियों की शादी के बाद, हताश–निराश होने के बजाय, किसान आत्महत्या जिसका एक कारण दारू भी है, को रोकने के लिए 'महिला भट्ठी भंजक दल' में शामिल होती है। इस मुहिम में बुरी तरह पिटती है, परन्तु पीछे नहीं हटती है।

एक और आग है सिंधुताई, जो पति पेट पर लात के प्रहार और बेहोशी में बाहर पटक दिये जाने के बाद बच्चे को जन्म देती है और साहस कर नाभि स्वयं काटती है, गंदे ईंट के टुकड़े से सोलह बार प्रहार कर। माइके का चौखट भी उसके लिए बंद हो जाता है। बच्चे को अनाथ आश्रम में छोड़कर वह अपने जैसे उपेक्षित माताओं और बच्चों को सम्मान दिलाने के लिए कमर कस खड़ी होती है। स्वभाव से इतनी निडर कि उसे सम्मानित करने आए अनिल और मुकेश अंबानी की माँ कोकिल बेन तक को नहीं छोड़ती है। डाँटती हुई कहती हैं–'तुम भूख के बारे में भला क्या जानती हो?'

एक और आग है सत्तर साल का तीसरी पास दलित दादा खोबरागड़े, जिसने एच.एम.टी सोना धान को विकसित किया। घोर दरिद्रता में जीता अग्रणी आविष्कारक, जो लोभ और निराशा को पास तक फटकने तक नहीं देता है। घोर दरिद्रता में भी चेहरे पर शिकन तक नहीं। जिस भारत और जिस विदर्भ में अपने लाभ–लोभ के लिए लोग आत्महत्या करते आ रहे हैं, हताश स्याह अँधेरे में मशाल की तरह जल रहा है वह।

और एक आग है नाटा, कृष्णकाय बहुत ही मामूली–सा दिखनेवाला देवाजी तोप जिसने गडचिरोली के मेंडालेखा गाँव को एक ऐसे आदर्श गाँव में बदल दिया है, जहाँ कोई मंदिर नहीं है, मस्जिद नहीं है, गिरिजाघर नहीं है, धर्म नहीं है, जाति नहीं है, ऊँच–नीच नहीं है, दारू नहीं है, हत्या नहीं है, आत्महत्या नहीं है। वहाँ के बाँस, धान हो या अन्य पैदावार सबका मालिक ग्राम समाज है। जिन्होंने खुद अपना सड़क बनाया है, खुद अपना बाँध। बाहरी हस्तक्षेप बिल्कुल नहीं।

इस तरह उपन्यास में बताया गया है कि इतनी दुर्दशा के बावजूद, इतनी लोमहर्षक घटनाओं के बावजूद यहाँ के किसानों में, यहाँ की नयी पीढ़ी में इन सबसे उबरने का एक जुनून है। हताशा निराश होकर आत्महत्या करते इस समाज में, इसके प्रतिरोध में उठे छोटी–सी–छोटी चिंगारी का भी उपन्यासकार का दर्शाना भले ही इस समस्या का ठोस विकल्प न हो, परन्तु उनके मनोबल को बनाये रखने में अवश्य ही सहायक होगा।

अमेरिका द्वारा मंगल ग्रह मिशन पर भेजे जानेवाले मल्लेश और अमेरिका में ही कैलिफोर्नियाँ में पेपर पढ़ने का आह्वान पानेवाले विजेन्द्र का भरी सभा में किसानों के पक्ष में खड़ा हो अपने मिशन से संबंधित कागजों को फाड़कर साम्राज्यवादी ताकतों की धज्जियाँ उड़ाते हुए हवा में उछालना उपन्यास को अपनी चरम बिन्दु पर पहुँचाता है।

इसके अलावा संवेदनशील मानवीय अंतरसंबंधों और अंतर्विरोधों का भी बहुत ही बारिकी अध्ययन मिलता है इस कृति में। एक ओर जहाँ विजेन्द्र और छोटी के प्रेम प्रसंगों द्वारा आधुनिक युग में बदलते स्त्री–पुरुष के अंतरसंबंधों को दर्शाया गया है, वहीं पर दूसरी ओर हिन्दू धर्म और उसके ढकोसलों से मुक्ति के लिए विदर्भ में दलितों द्वारा अपनाए जा रहे बौद्धधर्म के आपसी अंतर्विरोधों और बौद्धधर्म अपनाने के बाद भी उसके अंतर्विरोधों का भी बखान है।

इस तरह अंत में कहा जा सकता है कि इतने बोझिल और पेचिदा विषय की एक सरल और प्रभावी प्रस्तुति है यह कृति। रचनाकार ने विदर्भ के किसानों की आत्महत्याओं पर गाँधी अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय वर्धा में दो वर्ष तक शोध किया था। लाजिमी है कि उन्होंने इससे संबंधित विस्तृत ब्यौरे इकट्ठे किये होंगे। इन ब्योरों का डॉक्यूमेंटेशन और बात है तथा उन्हें उपन्यास का रूप देना और बात। उपन्यास में विदर्भ अंचल की संस्कृति का इतना आत्मसात, बडील, मुलगा, मुलगी, बैलबंडी, शेत, कापूस जैसे कितने ही स्थानीय शब्दों का सफल प्रयोग पश्चिम बंगाल के एक लेखक के लिए तबतक संभव नहीं हो पाता, जबतक कि वे वहाँ के स्थानीय लोगों के बीच जाकर, उनसे घुलमिलकर, उनमें से एक बनकर उनकी भाषा का, उनकी संस्कृति का, उनके जीवन का विधान, उनकी समस्या और सूक्ष्मता से अध्ययन न करता। इस मामले में कहा जा सकता है कि संजीव का प्रयास सार्थक रहा है। कहीं से भी वे विदर्भ के बाहर के लेखक नहीं लगते हैं। हालाँकि इसमें यदा–कदा कुछ ज्यादा ही विवरणात्मक के आने से इंकार नहीं किया जा सकता है। परन्तु इतनी बड़ी कृति में ऐसा होना लाजिमी है। इस तरह 'फांस' विदर्भ की श्मशानभूमि पर लिखी गयी किसानों की दुर्दशा और उनकी आत्महत्याओं की ही कहानी नहीं है, बल्कि इन परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष की कहानी भी है। आत्महत्याओं को रोकने की कहानी भी है।

समीक्षा

मतान्तर के फलक पर ध्रुवान्तर के प्रकटीकरण का प्रयास

डॉ. अनुज प्रभात
फारबिसगंज, मो0–9470023249

'ध्रुवान्तर' डॉ. मधुकर गंगाधर के उपन्यासों में दसवाँ, पर राजनैतिक सिरीज का तीसरा उपन्यास है। इनकी अपनी एक शैली रही है, जिसमें संवाद की प्रासंगिकता काल सापेक्ष होती है। आज जो हमारे समक्ष है, वह कल पर आधारित है या नहीं अथवा कल जो हुआ, क्या यह उसी का परिणाम है?... से सारी बातें इनके पात्र बोल जाते हैं... और पाठक ऐसा खोया रहता है कि उसे भान तक नहीं होता, वह कथावस्तु के साथ जुड़ा है।

लेखक की यह सबसे बड़ी परीक्षा होती है कि पाठक उसमें कितना डूबता है और कितना उसे अपने–सा विचारों से मिलता–जुलता नजर आता है।

'ध्रुवान्तर' अंतराल काल के राजनैतिक परिदृश्य को प्रभावित करता है। सन् 1967 से वर्तमान तक जो राजनैतिक पार्टियाँ बनीं, सरकारें बनीं, विद्रोह आंदोलन हुए, उससे जो गणित बना, वह समाज के लिए कितना अच्छा या बुरा रहा है, ये सभी बातें इस उपन्यास में आयी हैं तथा इसके आवरण पृष्ठ पर संगीता रघुवंशी ने अपने 'जरा–सा' में जो कहा–'राजनीतिक सिरीज का यह तीसरा उपन्यास 1967 से 2013 तक के भारतीय राजनीति के उठा–पटक का दस्तावेज है।'–सच ही है।

वास्तव में राजनीति का वह युग, जिसमें बैलेट का प्रयोग राष्ट्र और समाज दोनों के विकास के लिए होता था। सत्ता होती थी, लेकिन उसमें व्यक्तिवादी स्वार्थ नहीं था। वह बदलती गई, इसका भी ध्रुवान्तर कल्याण के मूल लक्ष्य से हटकर भटकाव की दिशा में स्वार्थवादिता की ओर हो गया। यह देश के प्रायः सभी दलों में समाता चला गया है। इसलिए पृष्ठ 37 पर लेखक ने लिखा है–''कहने को अलग–अलग पार्टियाँ हैं, अलग–अलग सिद्धांत हैं, लेकिन भ्रष्टाचार में सभी का एक–सा ध्रुवीकरण है। चाहे वह कांग्रेस के कलमाडी (खेल घोटाला), जासवाल (कोल घोटाला), भाजपा के गडकरी (जल–जमीन घोटाला) और बीच में ब्राड्रा जैसे घोटालेबाज भी होते हैं, जिनपर तत्काल में कोई कार्यवाही नहीं होती।''

लेखक का यह कथन कोई कथन नहीं , एक संवाद है, जिससे जनमानस भी जान ले कि सत्ता के भीतर जो–जो लोग हैं, वे कितने सिद्धांतवादी हैं?कहते हैं न.... 'हमाम में सभी नंगे।' बस, उसी का पर्यायवाची हैं ये पाटियाँ और उसके नेतागण'–ध्रुवीकरण के लिए एक घ्रुवान्तर।

लेकिन यह सब तभी होता है, जब इसे कोई देखनेवाला या उसपर कोई बोलनेवाला नहीं होता। माना कि प्रतिशतता के अनुरूप ऐसा माध्यम नहीं है, जो उन तक पहुँचा सके,.... क्या हो रहा है, लेकिन ये बुद्धिजीवी, ये पत्रकार, ये लेखक... क्या कर रहे हैं?यह सवाल भी उभरकर आता है, जो कौंधता है कि बुद्धिजीवी भी अपने–अपने क्षेत्र में, प्रतिष्ठाजनक, पदजनक, व्यक्तिवादी वैचारिक स्तरीय ध्रुवीकरण करने से अछूते नहीं रह पाते हैं। लेखक ने इस मर्म को समझाते हुए ही लिखा है–''हमें तो लगता है कि आजादी के बाद के जो बुद्धिजीवी हैं–पत्रकार, लेखक, चित्रकार आदि उनमें पालकी ढोने की प्रवृत्ति कुछ ज्यादा ही है।'' पृ.सं0 29

लेखक के इस कथन में पालकी प्रथा की जो बातें कही गई हैं, वे भी भ्रष्टाचार ही है, जो व्यक्तिगत स्वार्थ से जुड़ा होता है। यहाँ मुझे एक घटना का स्मरण हो आया है, जब 1999 में 'हंस' के सम्पादक राजेन्द्र यादव जी के साथ उनके कार्यालय में बैठा था, तो उन्होंने अनायास ही एक सवाल किया–''क्या तुम्हारे बिहार में साहित्यकारों की कमी है, जो राष्ट्रभाषा परिषद्वाले सम्मान के लिए यहाँ के साहित्यकारों को नामित करने के लिए निदेशक द्वारा लिखा गया है, वह भी किसी खास नाम के साथ?

और उन्होंने एक पत्र भी दिखाया और वह नाम भी दिखाया, जिसे राष्ट्रभाषा सम्मान के लिए उन्हें इन्डोर्स करने करने को कहा गया था। मेरे पास तब शब्द नहीं थे। लेकिन डॉ. मधुकर गंगाधर के पास शायद इसी जवाब का शब्द मुझे इस पुस्तक में देखने को मिला है। उन्होंने लिखा है–'बिहार के बाहर साहित्यकारों की पालकी उनके कंधों की शोभा बढ़ाती है।'' और इसे पढ़कर ही उस महान साहित्यकार राजेन्द्र यादवजी की बातें याद आ गयीं... शायद उन्हें भी पालकी ढोना पसंद नहीं आया था। 'ध्रुवान्तर' को यद्यपि राजनीतिक सिरीज कहा गया है, लेकिन राजनीति भी समाज से ही पैदा होता है। सामाजिक व्यवस्था में असंतोष, उपेक्षा और खास वर्ग की अपनी आकांक्षा का पूर्ण न होना अथवा सरकार द्वारा समाज विशेष के हितों को ही नहीं सोचना... एक विशेष वर्ग को तैयार करता है, जो विद्रोह करते हैं और आंदोलनकारी बन जाते हैं। यह पहले सामाजिक होता है, फिर कहीं राजनैतिक। इसलिए लेखक ने इस पुस्तक में पहली कड़ी सामाजिक परिस्थिति का भी उल्लेख किया है। ये परिस्थितियाँ भूख, गरीबी, बेकारी के साथ–साथ पूँजीवाद द्वारा शोषित होने की स्थिति में पैदा होती है और इसमें मुख्य भूमिका राजनैतिक पार्टियों के साथ–साथ तात्कालिक सरकार की भी होती है।

जब देश आजाद हुआ तो समाजवाद को कंधे पर लेकर जिन्दाबाद के नारे लगाये गये, लेकिन एक इलाका था, वह भी जहाँ पूँजीवादियों ने छीनने का काम किया, उसके खनिजों को हड़पने का काम किया, मगर इसकी क्षतिपूर्ति की कोई सामाजिक व्यवस्था नहीं थी। तभी पैदा हुआ नक्सलवादी से चारूमजूमदार, कानू सान्याल जैसे मार्क्सवाद। लेकिन तब की सरकार ने क्या किया?हकीकत को तलाशा?नहीं। निर्दोष नक्सली बन गये। लेखक ने उन परिस्थितियों का जिक्र करते हुए पृष्ठ सं. 128 पर लिखा है–''कलकत्ता के युवकों को, बगैर जाने–सुने कि कौन है, क्या कर रहे हैं, रातोंरात ट्रक पर लादा जाता और दूर ले जाकर एन्काउंटर कर दिया जाता।'' लेखक के भाव के अनुसार कहने को तो यह नक्सल वादियों पर दबाव डालना या उनका सफाया करना था, पर यह मार्क्सवाद का उदय था, जो नक्सलवाड़ी बंगाल से शुरू होकर उड़ीसा, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, केरल तक पहुँचा और वह दिन भी आया, जो राजनीति कर सबसे पहले बंगाल का तख्ता पलटा, मार्क्सवादियों का शासन हुआ।

लेखक ने यहाँ यह स्पष्ट किया है कि समाज ही वह कारक है, जो असंतोष और उपेक्षित पाकर अपनी दिशा को बदल लेता है और आम सामान्य जीवन जीने से अलग नई दिशा में उनका ध्रुवान्तरण हो जाता है।

लेकिन मार्क्सवाद आधारित, उनकी बैलेट आधारित राजनीति समाज से गरीबी नहीं मिटा पायी। कारण सभी पार्टियाँ और उसके नेताओं की दृष्टि में अलग–अलग होती, जो इस संबंध में पृष्ठ 132 पर ध्रुवान्तर का नायक कहता है–''भारत में सोनिया गाँधी, राहुल गाँधी के गरीब हैं, जिनके लिए वे रोटी बाँटते हैं। सुषमा स्वराज और वसुन्धरा राजे के गरीब हैं अलग, मायावती के अपने गरीब है, ममता बनर्जी के अपने गरीब हैं, जयललिता के अपने गरीब हैं–भारत बहुरंगी गरीबों का देश है..!'

लेखक का यह प्रसंग उस परिप्रेक्ष्य में है, जहाँ गरीब केवल और केवल इस्तेमाल होता है और 'गरीबी' शब्द उस इस्तेमाल की बुलेट होती है। इस संदर्भ में माओवादी के तर्क को भी लेखक ने रखा है। वे कहते हैं–'भारत की तमाम राजनैतिक पार्टियाँ गरीबी हटाने के लिए बैलेट इस्तेमाल करती है, हम माओवादी अमीरी हटाने के लिए बुलेट का इस्तेमाल करते हैं।'

तात्पर्य यह कि अमीरी–गरीबी ये दो शब्द सामाजिक विषमता के मूल में काल सापेक्ष हैं और इसी वजह से परिस्थितियाँ भी बदलती हैं, विचारधारा भी बदलते हैं।

ध्रुवान्तर में लेखक ने ऐसे भी कई सवाल उठाए हैं, जैसे नारी अस्मिता की सुरक्षा, गैंगरेप जैसी समस्या, आतंकवाद की 26 दिसम्बर, 2012 की घटना उपरान्त समस्या एवं मानव तस्करी के रूप में 'नारी तस्करी' की समस्या। इन सारी समस्या को देख नायक सूर्यप्रताप नक्सली का अंग बन जाता है। लेकिन जब वह नायिका अर्पणा की संगति में आता है, जो छात्र जीवन से ही एन.एस.यू. छात्र संगठन से जुड़ी रही है, वह राजनीति में आना चाहती है, के संपर्क में आकर सूर्य प्रताप का नक्सली विचार बदल जाता है।

अब वह अपने तरीके से सेवा भाव लेकर सामाजिक स्तर पर 'नारी' के उत्थान का प्रयत्न करता है। ठीक इसके विपरीत 'अर्पणा' सूर्य प्रताप के साथ चलते हुए जब उन परिस्थितियों को देखती है, तो वह सूर्य प्रताप के पूर्व दिशा की ओर चल पड़ती है। एक प्रकार से मतान्तर के फलक पर ध्रुवान्तर का प्रकटीकरण हो जाता है।

लेखक डॉ. मधुकर गंगाधर ने अपने इस उपन्यास में लीक से हटकर कुछ इस प्रकार लिखा है, जिसमें सामाजिकता की दिशा राजनैतिकता की ओर बढ़कर भटकाववादी हो गयी है। इसलिए इस उपन्यास का शीर्षक 'ध्रुवान्तर' सबसे मजबूत है एवं विषय संदर्भ है। पाठक चिंतन करें इस ध्रुवान्तर पर ...बस!

समीक्षा :

समकालीन स्पन्दन का सौंदर्य

डॉ. वीरेन्द्र आस्तिक
कानपुर, मो0–9415474755

समकालीन स्पन्दन का ग़ज़ल विशेषांक सामान्य अंकों से ऊँची कद–काठी का दस्तावेज तो है ही, विचारणीय, संग्रहणीय भी है। भारत में जो गज़ल के आदि शायर थे, उनसे शुरू करके मौजूदा युवा शायरों तक सफरनामे की प्रस्तुति में संपादक की निष्ठा और कलात्मकता वंदनीय है।

236 पृष्ठीय इस विशेषांक में 12–13 आलेख हैं और लगभग दो सौ गज़लकारों की कई–कई ग़ज़लें। पहले आलेखों पर बात करते हैं, जिनके विषय तो अलग–अलग दीखते हैं, किन्तु चिंताएँ लगभग एक ही प्रकार की है–'ग़ज़ल को गज़ल रहने दो'। हिन्दी ग़ज़ल बनाम उर्दू ग़ज़ल, भाषा विवाद, व्याकरणिक शुद्धिकरण और ग़ज़ल के कथित मसीहा जैसे मुद्दों को उठाकर ये आलेख एक बार फिर गज़ल को वर्जनाओं/पेचीदगी (सूक्ष्मता) को समझने/समझाने का प्रयत्न करते हैं। इसके बावजूद कुछ तथ्य उल्लेखनीय है–'डॉ. शिवओम अम्बर अपने आलेख में शब्द–प्रयोग के आधार पर भाषाई शिविरबंदी के मर्म को उजागर करते हैं। वे मानते हैं कि हिन्दी ग़ज़ल के भाषिक मानक दुष्यन्त की गज़लों से निकले हैं, इस तरह उन्होंने दुष्यन्त की गज़लों को तीन वर्गों में बाँटकर देखा, पहला–उर्दू (अरबी, फारसी, तुर्की शब्द) बाहुल्य ग़ज़लें, दूसरा हिन्दी–उर्दू मिश्रित गज़लें, तीसरा हिन्दी–संस्कृत शब्द बाहुल्य गज़लें।' वास्तव में हिन्दी ग़ज़ल का उत्स, उस खड़ी बोली से माना जाना चाहिए, जिसके जनक अमीर खुसरो हैं। वे ग़ज़ल में हिन्दी (हिन्दवी) शब्दों के पहले प्रयोग करते थे। इस तथ्य का उल्लेख हरिलाल 'मिलन' ने अपने आलेख में किया है। हिन्दी मिजाज की ग़ज़लों का दौर मीर तकी मीर से प्रारंभ हुआ। उनकी ग़ज़लों में हिन्दी और संस्कृतनिष्ठ शब्द भी मिलते हैं–

'फुर्सते–ख्वाब नहीं जिक्रे–बुतां में हमको
रात दिन राम कहानी सी कहा करते हैं।'

प्रसाद–निराला से लेकर बलवीर सिंह 'रंग' आदि में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के प्रयोग खूब मिलते हैं। अम्बर जी का आशय यह भी काबिलेगौर है–शब्द की उत्पत्ति में मत फँसो; क्योंकि पाठक तो ग़ज़ल के मन्तव्य और गन्तव्य को देखता है। धनीराम बादल भी सही जगह उंगली रखकर अफसोस जाहिर करते हैं–'हिन्दी में ग़ज़ल का कोई स्कूल ऑफ थॉट नहीं है।' शिल्पगत चुनौतियों/तख्तियों आदि पर कमलेश भट्ट कमल, डॉ. ब्रह्मज्योति गौतम आदि की विवेचना में बड़ी साफगोई है। तथ्य नवनीत की तरह सतह से उठकर ऊपर आ गये हैं, इसके बावजूद अधिकांश रचनाकारों ने 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' वाली लीक पर चलना पसंद किया है।

कई आलेख हैं, जो ग़ज़ल की विकास यात्रा को उस दृष्टि से नहीं देखते, जैसे संपादकीय में साहिल जी ने कविता (नई) बरक्स हिन्दी ग़ज़ल को रखने तथा उससे आगे निकल जाने की मंशा जाहिर की है।

ये सच है कि दुष्यन्त के बाद विमर्श (आलोचना) के क्षेत्र में ग़ज़ल प्रवेश करती है। जैसा होता है–व्यक्ति सबसे पहले अपनी संरक्षात्मक किलेबंदी करके विश्वसनीयता हासिल कर लेना चाहता है। मैं समझता हूँ कि ग़ज़ल में यह काम लगभग पूरा हो चुका है। हिन्दी साहित्य में अब ग़ज़ल एक समृद्ध विधा है। ऐसे में पुराने मुद्दों का विमर्शात्मक दुहराव कोई माने नहीं रखता। अब ग़ज़ल का असली जमीन की तरफ लामबंद होना चाहिए; क्योंकि ग़ज़ल भी छन्दबद्ध कविता की एक विधा है। हिन्दी साहित्य की कथित मुख्यधारा में छन्दबद्ध कविता की क्या हैसियत है, जगजाहिर है। मैं कहना चाहता हूँ–इन आलेखों में कोई ऐसा आलेख नहीं है, जिसमें हिन्दी साहित्य के समकालीन चिंतन में ग़ज़ल की स्वीकृति/अस्वीकृति का विमर्शात्मक चिंतन हो।

संकलन की कुछ अन्य विशेषताओं की तरफ भी ध्यान गया है। वाराणसी के ग़ज़लकारों और गणेश गंभीर के लेख–'समकालीन हिन्दी ग़ज़ल और काशी को अलग से चिह्नित करने के विचार सराहनीय है। इधर माँ पर गत वर्षों में गीत–ग़ज़ल खूब लिखे गये। यूँ तो माँ पर सभी शेर लाजवाब हैं। अभिलाषा तिवारी का यह लेख पुनः पुनः पठनीय है। किन्तु यहाँ मैं एक दूसरे तथ्य की ओर संकेत करना चाहूँगा–माँ के बारे में प्रायः ग़ज़लकारों के अपने अनुभव होते हैं। कहीं–कहीं तो जैसे ग़ज़लकार में माँ स्वयं बोल रही हैं। इसके बावजूद माँएँ क्या सोचती हैं?माँ का बयान ग़ज़ल में नहीं दिखता या कम दिखता है। अर्थात्

सारांशतः समकालीन स्पंदन के इस संदर्भ ग्रंथ में सैकड़ों शेर अपनी कहन भंगिमा से पाठकों को आकर्षित करते हैं और आश्चर्य में डाल देते हैं। किन्तु सच यह भी है–इसमें परम्पराएँ ज्यादा हैं, नवीनतम कम। वैसे अच्छे शेरों की तलाश में विनय मिश्र और भावना जैसे शायरों में उम्मीदें खोजना भी कम दिलचस्प नहीं। फिर भी अपनी पसंद की फेहरिश्त बहुत लंबी हो सकती है, तो कुछ शेर फर्ज अदायगी के बतौर–

साहित्य में भीगोया शिखर पर है चाटुकार
विद्रोह को इनाम नहीं दे सके कभी
कफस बढ़ा दे मेरा आसमान कम कर दे
अगर तू कर सके मेरी उड़ान कम कर दे
वो कैसा लफ्स था विष में बुझो उस कसमसाहट का
महकता जा रहा है कब से संदल कुछ नहीं कहता
दर्द की सौगात दे फिर बेकली की रात दे
जिन्दा रहने के लिए कुछ और भी सद्मात दे
जोड़ के रखने में घर भर को
माँ भीतर से टूट रही है।

कविता

संयुक्ता गुप्ता
भागलपुर

आदमी से डर

देख, कहीं छिपजा
शायद वो चीता ही है
नहीं तो, वो आदमी है
तू समझने की कोशिश कर
और अब इसी से डर
दया, ममता, करूणा है अब कहाँ
आदमी ही शेर, चीता है यहाँ
अब इससे ही भय रहा
वो गिद्ध अब नही रहा
जबसे यह गिद्ध बन बैठा
वो तो मरने के बाद खाता था
यह तो जिन्दा चबाता है
रूक जा, सावधानी से चल
शेर, चीता से नहीं
अब तू आदमी से डर

समीक्षा

नई सोच के साथ आदमी की तलाश

यूँ ही : गजल संग्रह

डॉ. अनिरुद्ध सिन्हा
गुलजार पोखर, मुंगेर, मो0–9430450098

हिन्दी ग़ज़ल संसार में अशोक 'अंजुम' एक जाना– पहचाना नाम है। समय की सारी असहजताओं को इन्होंने अपने लेखन का लक्ष्य बनाया है। यही लक्ष्य इन्हें ग़ज़लकारों की प्रमुख पंक्ति में लाकर खड़ा करता है। भाषा एवं शिल्प के नये तेवर से भी इनकी ग़ज़लें पाठकों को प्रभावित करती हैं। इनके पास अभिव्यक्ति के साधनों की कोई कमी नहीं है। एक साथ हिन्दी की कई विधाओं पर इन्होंने लेखन किया है। 'यूँ ही' इनका नवीनतम ग़ज़ल संग्रह है। संग्रह में कुल 76 ग़ज़लें हैं, जो विभिन्न कथ्यभूमि पर अपनी उपस्थिति दर्ज करवाती हैं।

अशोक 'अंजुम' की ग़ज़लों का मुख्य स्वर जीवन की विविध अवस्थाओं का है। ऐसे कभी–कभी राजनीतिक–लोकतांत्रिक के कठोर चित्र के भी संकेत मिलते हैं। मनुष्य की सृजनशीलता और इंसानियत में इनकी आस्था है। यह बात मन को बहुत अच्छी लगती है। संग्रह में कुछ ऐसे भी ग़ज़लें हैं, जो यथार्थ, सौंदर्य, आदर्श और व्यवहार की व्याख्या नये ढंग से करती है। इस व्याख्या के क्रम में आज का यथार्थ इन्हें काफी परेशान करता है। फिर भी अतिरंजना से स्वयं को बचाते हुए शब्दों की वास्तविक सामर्थ्य के साथ कह उठते हैं–

जब नजर होगी तेरी उड़ जाएगी
जान मेरी है तेरे खंजर में कैद।

कथ्य की दृष्टि से इस शेर में अपराध और व्यथित मन की दुखभरी जिन्दगी का कठोर यथार्थ है। व्यक्तिगत पीड़ा तो दिखलाई पड़ती है, लेकिन यही पीड़ा एक साथ कई अर्थों को जोड़ती भी है। व्यक्तिगत पीड़ा का मतलब है ग़ज़लकार ने 'मैं' (मेरी) शब्द का उपयोग किया है। लेकिन यह 'मैं' यथार्थ और ग़ज़लकार के बीच का संबंध केवल संयोग और बनावट पर आधरित है।

उत्तर आधुनिकता के इस परिवेश में अशोक 'अंजुम' का क्रोध साफ–साफ दिखाई पड़ता है। अपनी पहचान खो रहे मनुष्य को संकीर्णता, स्वार्थपरता और व्यक्तिवाद की अँधेरी गुफा से निकलने का स्वर तल्ख़ हो जाता है, जिसे हम इनकी मौलिक संवेदना का विकास भी मान सकते हैं।

नाग देखे हैं कई जहर उगलनेवाले
अब फक़त आदमी की जात से डर लगता है

इस शेर में अशोक अंजुम के कथ्य और शिल्प दोनों शक्ति सम्पन्न हैं। अपने परिवेश के अनुकूल कथ्य रचनेवाले इस ग़ज़लकार के पास दृष्टि के साथ सोच भी पुख्ता है। आदमी में आए नकारात्मक परिवर्तन पर अपने अर्थ संकेत को काफी तल्ख़ होने दिया है। इसी तरह राजनीति के करतबों पर भी तल्ख़ होकर कहते हैं–

सियासत क्या कहें तुमसे कि तू वो नर्स है जो कुछ
हरे कागज़ के टुकड़ों पर कभी बच्चा बदलती है

दरअसल में अंजुम की ग़ज़लें यथार्थ की मूल प्रवृत्ति से बिल्कुल निकट है। वैसा यथार्थ जो कल्पना की पगडंडियों पर टूटता लड़खड़ाता सामने नहीं आता है। बिल्कुल तल्ख़ यथार्थ। वर्णित शेर में वर्तमान राजनीति का असली चेहरा है। भाषा में अपनी स्वाभाविक लय है, कथ्य थोड़ा कठोर हो गया है। दूसरे शब्दों में हम इसे राजनीति की मूल मर्यादा की पड़ताल के क्रम में आए संकेतों का आंकलन भी कह सकते हैं।

संग्रह की प्राय: ग़ज़ल सामान्य कथन से होकर एक अर्थपूर्ण कथ्य प्राप्त करती हैं। विचारों और संवेदनाओं के खुलेपन में आधुनिक जीवन की हर हरकत पर पैनी नजर रखती हैं। जैसे–

हाले हिन्दुस्तान जो पूछा तो मुझको दोस्तो
एक लंगड़े शेर की तस्वीर दिखलाई गई

अशोक 'अंजुम' हिन्दुस्तान की वर्तमान दशा से चिंतित है। राजनीति की विफलता, संवेदनहीनता और क्रूरता विकट समस्याएँ बनी हुई हैं। इन समस्याओं की पूर्णता ने ही देश को पंगु बना दिया है। संग्रह की सारी ग़ज़लों पृथक्–पृथक् कथ्य अपना आकार ग्रहण करता है। इससे यह मान लेने में कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए कि विषय और अभिव्यक्ति पर इनकी पकड़ मजबूत है। ग़ज़लों में नयापन है। सारी ग़ज़लें जीवन और परिवेश की सटीक व्याख्या करती है।

प्रो. शरद नारायण खरे
मंडला (म.प्र.)मो.–9425484382

गीत

रोदन करती आज दिशाएँ
मौसम पर पहरे हैं
अपनों ने जो सौंपे हैं वो
घाव बहुत गहरे हैं
बढ़ता जाता दर्द नित्य ही
संतापों का मेला
कहने को है भीड़ हकीकत
मैं हर एक अकेला
रौनक तो अब शेष रही ना
बादल भी ठहरे हैं
अपनों ने जो सौंपे हैं वो
घाव बहुत गहरे हैं
व्यवस्थाओं ने हमको लूटा
कौन सुने फरियाद
रोज़ाना हो रही खोखली
ईमाँ की बुनियाद
कौन सुनेगा किसे सुनाएँ
यहाँ सभी बहरे हैं
अपनों ने जो सौंपे हैं वो
घाव बहुत गहरे हैं
बदल रही नित परिभाषाएँ
सबका नव चिंतन है
हर इक की है पृथक् मान्यता
पोषित हुआ पतन है
सूनापन है मातम दिखता
उड़े–उड़े चेहरे हैं
अपनों ने जो सौंपे हैं वो
घाव बहुत गहरे हैं

समीक्षा :

संभव है : निबंध संग्रह

बोध के वाहक : ज्ञान चन्द मर्मग्य

—आचार्य बलबन्त
हिन्दी विभागाध्यक्ष
कमला कॉलेज आफ मैनेजमेंट स्टडीज
बंगलूर, कर्नाटक मो0—9844558064

'निंबंध' संस्कृत भाषा का शब्द है। संस्कृत की कोई भी मौलिक रचना चाहे वह गद्य में रही हो या पद्य में, निबंध या प्रबंध कही जाती रही है। हिन्दी में निबंध लेखन की परंपरा का आरंभ उनीसवीं सदी के उत्तरार्ध (भारतेन्दु युग) से माना जाता है। निबंध गद्य रचना का वह रूप है, जिसमें किसी विशेष अनुभव अथवा विचार का सहज, सरल, सटीक व सारगर्भित ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। इसकी भाषा गद्य की अन्य विधाओं से अधिक प्रांजल, प्रौढ़ और परिमार्जित होती है। साहित्य मनीषियों ने इसे कहानी और उपन्यास आदि के विकास के उपरान्त की विधा बताया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निबंध को गद्य की कसौटी कहा है। बाबू गुलाब राय ने सीमित आकार की उस गद्य रचना को निबंध की संज्ञा दी है, जिसमें किसी विषय का वर्णन एक विशेष निजीपन, स्वच्छता, सौष्ठव, सजीवता तथा आवश्यक संगति और संबद्धता के साथ किया गया हो।

साहित्य जगत में ज्ञानचंद मर्मज्ञ उन गिने–चुने साहित्य– कारों में एक हैं, जो अनूठे प्रतीक तथा अभिव्यक्ति की सहज और सुबोध शैली के लिए जाने जाते हैं। मर्मज्ञ का कथालोक कल्पना की भित्ति पर खड़ा न होकर यथार्थ की वास्तविकताओं पर आधारित है। आपके सद्यः प्रकाशित संग्रह 'संभव है' के निबंध, जीवन के विभिन्न आयामों से संबंधित हैं। इनके कथ्य रोचक, रोमांचक, रमणीय और शिक्षाप्रद हैं। जीवन के विविध रंगों का इतना विशद, विहंगम व हृदयस्पर्शी चित्रण बहुत ही कम देखने को मिलता है। प्रख्यात गीतकार नीरज ने 'संभव है' की उपादेयता को सराहते हुए कहा है–विषयों पर आपके वैचारिक निबंधों की यह शृंखला काव्य की गरिमा से कहीं कम नहीं है। आपका 'सृजनात्मक लेखन' साहित्य की आगामी पीढ़ी को भावोन्मुख लेखन की ओर प्रेरित करेगा। कवि उदय प्रताप सिंह ने निबंधों में निहित मार्मिकता को महसूस करते हुए इन्हें बिहारी के दोहों की भाँति मर्मभेदी बताया है।

मर्मज्ञ जी 'अपनी बात' भी कुछ इस तरह से करते हैं कि उनकी बात मनुष्यता की बात हो जाती है। मनुष्य की श्रेष्ठता का बखान करती 'अपनी बात' की ये पंक्तियाँ हृदय को गहराई तक स्पर्श करती हैं–हृदय बनाया तो ढेर सारा स्नेह भर दिया, कंठ बनाया तो सुर से भर दिया, मन बनाया तो संवेदना भर दी और आँखें बनाई तो उनमें अनगिनत सपने भर दिये।

मन की आँखों से देखे जानेवाले सपनों की विशेषता का अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप 'सपने सच भी होते हैं' निबंध की पङ्क्ति में देखा जा सकता है।। 'ये चिंतन की आग में तपे होते हैं, इनसे समर्पण की रश्मियाँ प्रस्फुटित होती हैं और कुछ करने की चाहत इन्हें बेचैन किये रहती हैं।' संस्कृति और सभ्यता के सपनों को बचाए रखने की ललक भारतीय संस्कृति के प्रति लेखक की गहरी प्रतिबद्धता को दर्शाती है। 'संभावनाएँ अभी भी बाकी हैं' निबंध रचना मनुष्य और प्रकृति के अंतर्संबंधों को रेखांकित करती हुई इस तथ्य की ओर इशारा करती है कि जीवनदायी वृक्षों, नदियों, आकाश एवं उसके तारों से संपृक्त हुए बिना अनंत के विस्तार में स्वयं को ढूँढ़ पाना कठिन ही नहीं, बल्कि असंभव है। 'शहर के छोर पर बसनेवाले गाँवों को इस डर से नींद नहीं आती कि कहीं शहर उन्हें लील न जाए का इंगितार्थ शहरी जीवन शैली से सावधान रहने की जरूरत पर बल देता है।'

'भारतीयता' संग्रह का एक विचारोत्तेजक और सारगर्भित निबंध है, जो जीवन में व्याप्त विद्रूपता और नैतिक मूल्यों के ह्रास को उजागर करता है। नैतिक मूल्यों का क्षरण हमारे संस्कार को निगलता जा रहा है और हम हैं कि अपाहिज व्यवस्था को गले लगाये अपने स्नेह की पूँजी और विश्वास का गंगाजल उन्हें सौंप देते हैं, जो देश के साथ विश्वासघात करने में थोड़ा भी नहीं हिचकिचाते।' जैसी आक्रोशपूर्ण उक्तियाँ राजनेताओं की मंशा को ठीक से भापने की जरूरत पर बल देती है, ताकि हम उनके झाँसे में आने से बच सकें। परन्तु ऐसा तभी संभव है, जब हमें अपने अधिकारों का ज्ञान, कर्तव्यों की समझ और जिम्मदारियों का भान हो। 'हिन्दी का वनवास' स्वतंत्र भारत में हिन्दी की यथा स्थिति का अत्यन्त कारुणिक चित्रण है। स्वतंत्रता के अड़सठ वर्ष बाद भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा न दिये जाने पर लेखक के अंतर्मन का उद्वेलन फूट–सा पड़ा है। जिस भाषा ने स्वतंत्रता सेनानियों के अधरों को भारत माँ के जयघोष से सँवारा, आज वह भाषा अपने ही देश में अनुवाद की भाषा की जिन्दगी जीने पर मजबूर है और जोगन की तरह अपनी पहचान के लिए दर–ब–दर भटक रही है।' हिन्दी हिन्दुस्तान के हृदय की धड़कन है। हिन्दी की उपयोगिता और भारतीय जनमानस में उसकी गहरी पैठ को देखकर ही जर्मन विद्वान् लोठार लुत्से ने कहा था–'हिन्दी सीखे बिना भारत के दिल तक नहीं पहुँचा जा सकता।'

मनुष्य की बाल प्रकृति का यथार्थ और मनोहारी निरूपण 'वो बच्चा' निबंध का मुख्य लक्ष्य है, जिसे साधने में लेखक को अपेक्षित असफलता प्राप्त हुई है। 'हर दिन भोर की पहली किरण की लालिमा उसके (बच्चे) चेहरे को स्पर्श कर अपने सौंदर्य को निखारा करती थी' की प्रतीकात्मकता बालरूप के अनूठे लावण्य को व्यंजित करती है। 'उसकी मुस्कुराहट इतनी बड़ी कि देखनेवाले उसमें समा जाते थे' की शब्द, शिल्प और शैलीगत सहजता देखते बनती है। उक्ति के इंगितार्थ भी अद्‌भुत है। बच्चे की निश्छल हँसी के परिप्रेक्ष्य में रामचरितमानस की जगह मानस होता तो उसकी व्यंजना अपेक्षाकृत अधिक बलवती हुई होती। इसके प्रथम अनुच्छेद में वर्णित बचपन की प्रस्तावना अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। इसमें लयात्मकता इतनी है कि पूछिए मत! सच्चाई की तुलसी रोपना, जीवन की थाप ढूँढ़ना, भीड़ का चेहरा बनना, अधरों पर मुस्कान की सुनहरी नदी का बहना, जीवन बनकर लोगों में प्रवाहित होने जैसी अलंकारिक उक्तियाँ शब्द–सौंदर्य को नई दीप्ति से भर देती हैं। बाल जीवन की महत्ता को प्रतिपादित करती निम्न पंक्तियाँ हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं–'काश!वो बच्चा हम सबके अंदर होता तो सब कुछ कितना अलग होता। हर तरफ खुशियाँ ही खुशियाँ चहक रही होतीं। द्वेष, घृणा और नफरत के लिए कोई स्थान नहीं होता।' हालाँकि तितली से भी हल्के होने की परिकल्पना काव्य के प्रचलित मानदंडों से बिल्कुल अलग लगती है।

'मम्मी!पापा गंदे तो नहीं' रिश्ते की पवित्रता के ताने–बाने को तार–तार करनेवाली घृणित सोच पर सवाल खड़े करता एक विचारात्मक निबंध है। 'कब, क्यों, कहाँ और कैसे' निबंध मनुष्य की मानसिक वृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। मुस्कुराहट को संतुलन का श्रेष्ठ उदाहरण कहें तो गलत न होगा, बशर्ते कि वह किसी स्वार्थसिद्धि के लिए चेहरे पर थोपी न गई हो। 'जब प्यासे अधरों से मुस्कुराहट की चौपाइयाँ झरना बनकर फूटेंगी तब इन्हें स्वतः खुशियों के रामायण का रसपान होने लगेगा की लयात्मकता आकृष्ट करती है। 'कबूतर की व्यथा' भी अत्यन्त विचारोत्तेजक और सारगर्भित निबंध है। शांति के संदर्भ में प्रयुक्त कबूतर की प्रतीकात्मकता अनूठी है। सर्वविदित है कि भौतिक संसाधन हमें सुख–सुविधाएँ तो उपलब्ध करा सकते हैं, पर मन की शान्ति नहीं दे सकते। शान्ति की तलाश के परिप्रेक्ष्य में शान्ति के लिए सीमा पर तैनात सिपाहियों की जगह सुरक्षा के लिए तैनात सिपाहियों...उपयुक्त होता।

'सृजनात्मक लेखन' लेखन के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए उसकी विशेषताओं का विवेचन करता एक हृदयस्पर्शी निबंध है। स्नेह, सद्‌भाव, समानता

और विश्वबंधुत्व की अवधारणा को पुष्ट करनेवाले साहित्य को ही सृजनात्मक लेखन की श्रेणी में रखा जा सकता है। युगीन चेतना को प्रबुद्ध करने के लिए सृजनात्मक लेखन आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य भी है। ऐसा न होने की स्थिति में हमारी पहचान की गरिमा पर पड़नेवाले प्रभाव को निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है–'लेखन स्वयं में ऐसी घटना है, जिसके न होने की स्थिति में न केवल हमारे विचार, हमारी भावनाएँ, हमारी संस्कृति और हमारा ज्ञान–विज्ञान आनेवाली पीढ़ियों को संप्रषित होने से वंचित रह जाते हैं, बल्कि हमारी पहचान की गरिमा भी धूमिल पड़ने लगती है।'

16 जून, 2013 को उत्तराखंड के केदारनाथ में आई भीषण बाढ़ से हुई जन–धन की क्षति को प्राकृतिक असंतुलन का प्रमुख कारण बताना युक्तिसंगत है। प्रकृति की प्रकृति को बदलने की मनुष्य की दूषित मंशा ही इस विभीषिका के लिए उत्तरदायी है। प्रकृति के कोप का हृदयविदारक दृश्य 'प्रकृति' की निम्न पंक्तियों में पूरी जीवंतता के साथ उभरा है–'आस्था के वो रास्ते जिनपर चलकर लोग अपने इष्टदेव के चरणों तक पहुँचने का विश्वास रखते थे, अचानक बहने लगे। देखते–ही–देखते पहाड़ों की आँखों से इतने आँसू बहे कि मिट्टी और पत्थर के रास्ते पानी के सैलाबों में तब्दील हो गये।' 'भूकंप' आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया विमर्शपरक निबंध है, जो प्रकति के प्रति हमारे गैर जिम्मेदार रवैये को रेखांकित करता है।

'मैं हिन्दी बोल रही हूँ' निबंध हिन्दी भाषा और उसकी संस्कृति के अंतर्संबंधों को प्रकट करता है। इसका कथ्य 'हिन्दी का वनवास'–सा ही मार्मिक व हृदयग्राही है। हिन्दी भाषा के अस्तित्व पर मंडराते संकट से रू–ब–रू कराती ये पंक्तियाँ हमें ठहरकर सोचने के लिए बाध्य कर देती हैं। 'आपके अधरों पर उगकर मैं यह भी भूल जाती हूँ कि जिन स्पर्शों को मैं अपनी प्यास की अंतिम अभिलाषा समझ रही हूँ, वह उस छलावे का रेतीला तट मात्र है, जहाँ मैं पिछले कई वर्षों से प्यासी भटक रही हूँ। आपकी खुशियाँ मुझे अभिभूत तो करती है, मगर दुःख का गहन अंधकार मेरा हाथ पकड़कर उस ओर खींच ले जाता है, जहाँ किसी ने सूरज का बीज तो बोया पर अभी तक प्रकाश का कोई पौधा नहीं उगा।'

माँ, शब्द निःशब्द, भूकंप, लौट आते तो अच्छा होता' शीर्षक निबंध भी निबंध कला की कसौटी पर खरे प्रतीत होते हैं। संग्रह के अधिकांश निबंधों के कलेवर कसे हुए हैं। शब्द संयोजन लयात्मक आरोह–अवरोह से इस तरह आबद्ध है कि कदम–कदम पर काव्यात्मक छवियाँ सजीव हो उठी हैं। मर्मज्ञजी के निबंध जीवन की सकारात्मक को बल देते हुए बोध के वाहक बनकर मानवीय मूल्यों की स्थापना में सहायक सिद्ध होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

मनोज चौहान
रामपुर बुशहर, शिमला
(हि.प्र.) मो0–09418036526

हे प्रकृति माँ

हे प्रकृति माँ,
मैं तेरा ही अंश हूँ
लाख चाहकर भी
इस सच्चाई को
झुठला नहीं सकता
मैंने लिखी है बेइन्तहा
दास्तान जुल्मों की
कभी अपने स्वार्थ के लिए
काटे हैं जंगल
तो कभी खोदी हैं सुरंगें
तेरा सीना चीरकर
अपनी तृष्णा की चाह में
मैंने भेंट चढ़ा दिये हैं
विशालकाय पहाड़
ताकि मैं सीमेंट निर्माण कर
बना सकूँ एक मजबूत और
टिकाऊ घर अपने लिए
अवैध खनन में भी
पीछे नहीं रहा हूँ
पानी के स्रोत
विलुप्त कर
मैंने रौंद डाला है
कृषि भूमि के
उपजाऊपन को भी
चंचलता से बहते
नदी, नालों और झरनों को
रोक लिया है मैंने बाँध बनाकर
ताकि मैं विद्युत उत्पादन कर
छू सकूँ विकास के नये आयाम
तुम तो माता हो
और कभी कुमाता
नहीं हो सकती
मगर मैं हर रोज
कपूत ही बनता जा रहा हूँ
अपने स्वार्थों के लिए
नित कर रहा हूँ
जुल्म तुम पर
फिर भी तुमने कभी
ममता की छाँव कम न की
दे रही हो हवा, पानी, धूप, अन्न
आज भी
और कर रही हो
मेरा पोषण हर रोज।

लिंगड़ू की गठरियाँ

उस पहाड़ी सड़क के
हर मोड़ पर
मकानों के झुरमुट
के समीप से
जब भी गुजरती है
कोई गाड़ी
नन्हें हाथ हर बार
उठ जाते हैं
ऊपर की ओर
उठाये हुए
हाथों में
लिंगड़ू की छोटी गठरियाँ
मटमैले से कपड़े पहने
मगर चेहरे पर
कोमल व निर्मल
भाव लिए
रुकती नहीं
जब कोई गाड़ी
हताश हो जाते हैं वह
मगर फिर
लौट आती है
चमक
उन आँखों में
लगते हैं ब्रेक
किसी गाड़ी की
दौड़ पड़ते हैं सभी
एक साथ
और जब खरीद
ली जाती है
उनमें से
जिस किसी भी
लिंगड़ू की गठरियाँ
प्रफुल्लित हो उठते हैं वह
यह छोटी सी जीत
बढ़ा देती है
उनका हौसला
और उम्मीद
भविष्य में कुछ बड़ा
और बेहतर
कर देने की
और जो बच जाते हैं
वो गड़ा लेते हैं
नजर वापिस
दूर तलक
सड़क के मोड़ पर
उम्मीद है उन्हें
कि रुकेगी फिर
कोई गाड़ी
और बिक जाएँगी
लिंगड़ू की गठरियाँ।

कहानी :

आना मेरे घर

तुलसी देवी तिवारी
विलासपुर, छ0ग0 मो0–9907176361

पहली रात तो उसकी गोद में सिर रखकर वह फूट–फूट रोया था, उसके आँसू गले तक बह आए थे। इस तगड़े से रौबदार नौजवान को इस प्रकार रोते देख वह सहम गई थी। उसने सुना अवश्य था कि यह उसकी दूसरी शादी है, पहली जलकर मर गई थी, दुनिया में लोग दूसरी शादी करते हैं। जो जल भून गया, उसके बारे में सोचने की जहमत उसने नहीं उठाई थी। पुलिस की नौकरी है लड़के की, ससुर भी पुलिस विभाग से रिटायर हैं, अच्छी–खासी पेंशन पा रहे हैं। माना कि एक चार वर्ष का बच्चा है, कोई बात नहीं! खाता–पीता पड़ा रहेगा, उसे सँभालने के लिए सास–ससुर पर्याप्त है।

वैसे भी तीस की पक्की उम्र हो रही थी उसकी, एक तो बाप की गरीबी दूसरे गाँव की बदनामी, चुटकी भर सिन्दूर के लिए तरस गया था जीवन। मान लिया था उसके माता–पिता और स्वयं उसने भी कि अब उसे समझौतेवाली शादी ही करनी पड़ेगी। उसने पूरे मन से अपनी स्थिति स्वीकार की थी। रह गई बात दूसरी औरत के जूठन की तो कौन जानता है कि कौन निजूठ है?वही कौन–सा इसके लिए अपने को बचाकर रख सकी है?जीवन जीने के लिए समझौता तो करना ही पड़ता है।

'उसे जी जान से प्यार किया था, न जाने क्या हुआ, जो इस प्रकार मुझे छोड़कर चली गई?' वह सिसक रहा था।

'शांत हो जाइए! तकदीर पर किसका वश चलता है?जितने दिन का संग साथ लिखाकर लायी थी, उतने दिन निभाकर चली गई। ये तो लगता है मुझे आपकी सेवा का मौका मिलना बदा था, यदि वे होतीं तो मैं भला कैसे आती आपके जीवन में?' उसने अपने कामदार साड़ी के आँचल से उसके आँसू पोंछे। उसकी आँखें भी भरी गागर–सी छलक पड़ी थीं। नादान बच्चे की तरह उसकी बातें स्वीकारता रहा।

'आप पुराना सब कुछ भूल जाइए, जैसे वह आपका पिछला जन्म हो। मुझसे जितना बन पड़ेगा, आपकी सेवा करूँगी। समय सब भुला देता है।' उसने दार्शनिक मुद्रा में समझाया था। मेरा एक नन्हा–सा बच्चा है, देखा नहीं तुमने उसे?' उसने उम्मीद भरी निगाहों से उसे देखा।

'देखा है, वह तो पहले ही मेरी गोद में आकर बैठ गया था।' उसने बात समाप्त की थी।

वह सुबह देर तक सोता रहा। उठा तो बेहद झुंझलाया हुआ, इसे डाँटा, उसे डाँटा; यह तोड़ा, वह पटका। माँ दौड़–दौड़ कर उसके काम करती रही। ले देकर वह ड्यूटी गया, बार–बार अंदर बाहर होते–होते।

दूसरी रात उसने पी रखी थी, पहले घर में घनघोर तमाशा मचाया, माणिक डर कर कहीं छिप गया था, माँ थर–थर काँप रही थी। बाप से कुछ कहते नहीं बन रहा था। उसे काटो तो खून नहीं था शरीर में।

'शराब पीता है! चलो कोई बात नहीं, हमारे सैदा में तो लगभग पीते–खाते हैं, पापा भी तो पीते हैं, वे तो ड्राइवर हैं, उनका पीये बिना कहाँ चलनेवाला है?यह भी तो पुलिस में है, बहुत तनाव रहता है इनके जीवन में। सब चलेगा।' उसने स्वयं को हर प्रकार के सदमे से मुक्त किया।

'मैं पीता नहीं, शादी की खुशी में दोस्तों को पिला दिया, तुम नाराज तो नहीं?' कमरे में वह एक अच्छे आदमी की तरह शांत था।

'कभी–कभी हो जाता। ऊपर से वह भी सामान्य लग रही थी। उसकी आँखों में वासना के डोरे उभरे जा रहे थे, सिगरेट के कस के साथ–साथ वह उसके एक–एक अंग की मापतौल कर रहा था। उसने अनायास उसकी साड़ी खींच दी, उसका आशय समझकर वह गहरे से मुस्कुरायी।

'बड़ी गर्मी है!' कहते हुए उसने अपने कपड़े उतारकर कुर्सी पर रख दिये। उसने शर्म से अपनी आँखें बंद कर ली थीं। बाहर एकदम शान्ति थी, ऐसा लग रहा था कि जैसे सब सो गये हों, गर्मी की रात थी, दो कमरे का क्वार्टर, सामने घेरकर आँगन बना गया था, उसी में सब लोग सोते थे, गर्मी की रातों में। वैसे तो कमरे में सीलिंग फैन चल रहा था, किन्तु लग रहा था, जैसे हवा सूरज से मिलकर आ रही हो। उसके शरीर पर जैसे चीटियाँ रेंगने लगी थीं। वह पास आ गया था, उसकी बाँहों का घेरा सख्त हुआ, वह पलंग पर गिरा दी गई।

'अरे! ये क्या करते हो ऽ ऽ?' वह पीड़ा से चीख पड़ी थी। कुछ समझे इसके पहले ही छाती तथा जाँघों के बीच कई जगह जलती सिगरेट से जल चुकी थी। जलन और अपमान की स्वाभाविक प्रतिक्रिया! उसने उसे परे धकेल दिया।

मुझे धकेलती है ऽ ऽ?मादर... वेश्या! कहाँ–कहाँ से भाड़े पर चली है, मैं नहीं जानता क्या?' उसने एकदम अपना रंग बदल दिया।

'जलाते क्यों हो मुझे?' उसने कातर दृष्टि से उसे देखा।

'अरे! क्या करूँ?यह शरीर है तेरा! खुरपी से छिलो तब भी कुछ हाथ न आए, तू तो पूरी खोजा है, हाय रे मेरी बड़ी ऽ ऽ! उससे असाँस भरी। कमर का सारा मांस गोल–गोल होकर जैसे छाती पर ससज गया था। नशे के कारण मन की कुंठा ज़बान पर आ गई।

'अरे! तो इसमें मेरी क्या गलती है?सबके शरीर की बनावट एक जैसी होती है क्या?' वह तिलमिला उठी थी।

'जाओ कमरे से बाहर! मुझे तुम्हारी कोई जरूरत नहीं है।' वह भयानक ढंग से चीख रहा था, उसी आँखें शूर्ख अंगारे की तरह दहक रही थीं। मुँह से निकलकर चेहरे पर इधर–उधर फैल रहा था।

उसे तो जीवनदान मिल गया, वह तेजी से दरवाजे की ओर भागी थी कि बाँह पकड़कर खींच लिया उसने।

'खबरदार! बाहर निकली तो हमेशा के लिए बाहर!'

'ठीक है हमेशा के लिए जा रही हूँ' उसका गला रूँध गया था।

खींचकर बाँहों में जकड़ लिया था उसने, चूम–चूमकर उसे बेहाल कर दिया, न जाने कहाँ से इतना प्यार का सागर उमड़ आया उसके व्यवहार में?

'माफ कर देना मालती! मैंने मजाक किया था। मैं देख रहा था कि तुम कितना सह सकती हो। तुम तो मेरा उजड़ा घर बसाने आई हो, कभी मुझसे दूर मत जाना, वर्ना मैं तो बिना मारे मर जाऊँगा।वह जार–बेजार रोने लगा था।

'मुझे माफ कर दो, वर्ना अपनी जान दे दूँगा। वह इधर–उधर कुछ खोज रहा था, जिससे अपना जीवन खत्म कर सके।

'ये रहा बिजली का बटन! इसे उखाड़कर तार छू लेता हूँ' वह बोर्ड की ओर बढ़ा।

'नहीं–नहीं, ऐसा मत कीजिए! मैं भला आपसे नाराज होकर कहाँ जाऊँगी?अब तो जीवन–मरण आपके ही साथ है।' उसने बलपूर्वक उसे अपनी तरफ खींचा। वह चीखती रही। सारे फोड़े फूट गये, देह जैसे कोल्हू में पेरी गयी हो, अंग–अंग टूट रहा था उसका, अंतरमन घृणा का सैलाब उमड़ रहा था।

उस दिन सुबह वह बड़ा प्रसन्न था। सबसे हँस–हँसकर बातें कर रहा था। वह दर्द और जलन की मारी कमरे में ही लेटी थी, किसे बताए?चेहरा किसी को दिखाने लायक नहीं बचा, चाल में लंगड़ाहट, चेहरे पर मुर्दनी, वह सुबह जल्दी उठ नहीं पाई। सास ने बुरा–सा मुँह बनाये सारा काम निबटाती रही। वह उसे एक प्याला चाय दे गया था।'

'आराम करो, अम्मां सब सँभाल लेगी!' कहता हुआ ड्यूटी चला गया था। हर रात उसके लिए कालरात्रि थी, सिर पर सिन्दूर जलता रहता था आग की तरह।

'मेरी तकदीर ही फूटी है, पहली ने इतने कलंक लगाये। लोगों ने जलाकर मार डालने तक का आरोप लगाया। दस साल के बाद उसे न जाने क्या सूझी, जो एक बच्चा छोड़कर जल मरी। दूसरी लाये तो यह अपने आपको न जाने क्या समझती है?औरत जात का धरम क्या होता है, किसी ने बताया नहीं इसे, ऐसा लगता है। अरे! मुँहअँधेरे उठो, घर–बाहर साफ–सुथरा करो, सबका भोजन बनाओ, समय बचे तो कुछ सिलाई–बुनाई करो।' महीना भर सहने के बाद सास ने एक दिन सुना ही दिया था।

माँ! मैं करना चाहती हूँ, परन्तु कर नहीं पाती, जरा देखो! ये दाग किसके हैं?गोल–गोल जले हुए, कुछ अच्छे होते, तो कुछ नये बन जाते हैं। ये पूरे शरीर पर हैं, इनके दर्द से मैं बेहाल रहती हूँ।' नजरें झुकाये–झुकाये उसने आँचल हटा कर सीने की गोलाइयों पर पड़े घाव दिखा दिये।

'हाय राम! ये किसके दाग हैं?लगता है कोई चर्मरोग है, परन्तु ऐसे दाग तो बड़ी के शरीर पर भी दिखते थे!' उसकी आँखें कुछ सोचने के अंदाज में सिकुड़ गयीं।

'ये सिगरेट से जलने के घावों से बने दाग हैं।' उसके स्वर से पीड़ा की गागर छलक रही थी।

'कैसे जल जाती हो तुमलोग?रुको! आज रोहन से कहती हूँ कमरे में सिगरेट न पिया करे!' उसने सब कुछ समझकर भी अनजान बनते हुए कहा था।

उस रात उसने जरा–सा संकेत भर किया था, 'मुझे घर के काम में माँ की मदद करनी चाहिए, ऐसे अच्छा नहीं लगता।'

'माँ कुछ कह रही थी क्या?' उसकी त्योरियाँ चढ़ गयीं।

'कह रही थीं तो क्या गलत कर रही थीं?शादी एक ही काम का नाम नहीं, मुझे भी थोड़ी राहत चाहिए। आप आज बाहर सो जाइये!' उसके स्वर में निवेदन था।

वह इस प्रकार उछलकर बाहर निकला, जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो। 'मेरा जरा–सा सुख देखा नहीं जाता?तू तो साँपिन से भी ज्यादा जहरीली है! कितने दिन उसे आये हुए जो उसने तेरा पानी पिंडा नहीं किया?बक–बक कर तेरा मुँह खुल गया है, इसी मुँह के कारण बड़ी जल मरी, अब वही शुरू कर रही है?' वह बिफरे साँड़ की तरह आँगन में फेरा दे रहा था।

वह संकोच से मरी जा रही थी, 'क्या सोचेगी सास?आते ही चुगली करके माँ–बेटे को लड़वाने लगी।

'मैंने ऐसा क्या कह दिया जो इतना बिगड़ रहा है?मुझसे पूरा काम नहीं हो पाता, इसीलिए थोड़ा मदद करने को कहा है।' सास की आवाज एकदम धीमी थी, अपराधबोध से दबी–दबी–सी।

ससुर की बोलती बंद, दरवाजे के बाहर बैठ जाते हैं जाकर। 'तू ने जनमाया, तू ही भोग अब।'

वह निकलकर माता चौरा वाले पेड़ के नीचे जाकर अँधेरे में छिप गई थी। इसके बाद तो उसने रोज उसे गाली–मार खाते देखा। एक दिन उसने ऐसा धकेला कि जाकर नहानी के पत्थर से टकराई, सिर फुट गया। बाप बीच में आया तो वह भी गिरा धक्का खाकर। रोहन उससे लिपट गया था, उसे भी चोट लगी थी।

उससे रहा न गया, उसने उसकी मरहमपट्टी करके अधिक खून बहने से रोका। दूसरे दिन ननद आकर उन्हें अपने घर ले गई। अब तो रोहन की पाँचों अंगुली घी में, मारे तो सहो, जलाये तो जलो, जब जो कहे पकाकर दो, अब तो मालती के लिए 'मरे बिहान' हो गया। बहुत रोयी–रोयी तब कहीं एक दिन के लिए मायके ले गया, तो पूरे समय साथ–साथ लगा रहा, न माँ–बाप को कुछ पूछने का अवसर मिला, न उसे कुछ बताने का।

'चलो, सास–ससुर का टंटा भी टूट गया, अपने आप घर छोड़कर चले गये। बड़ी की जमी जमाई गृहस्थी, उसके सारे गहने सब कुछ तो अपनी मालती को अनायास ही मिल गया, बहुत है भगवान का दिया, परन्तु इसके शरीर पर ये गोल–गोल दाग कैसे पड़ गये?वह इतनी भकुआई हुई क्यों है?' उनके मन में कुछ प्रश्न थे, जिनका उत्तर देनेवाला कोई नहीं था।

ड्यूटी के दौरान शराब पीकर हुल्लड़ करने के कारण उसे सस्पेंड कर दिया गया था। अब तो बस हाजिरी देकर आओ और घर में बारह बखेड़ा करो।

'मेरे दिन चढ़े हैं जी अब जरा सँभल जाएँ। उसने उस रात पहली बार हुलसकर उससे कुछ कहा था।

'दिन चढ़कर क्या होगा?हाँ ऽ ऽ ऽ ऽ?एक है उसे ही सँभालते नहीं बनता, कभी उसे गोद में लेकर उसे प्यार किया?बिचारा टूअर–टापर जैसे घूम रहा है!'

'अरे! यह कौन बोल रहा है?क्या यह भी अपने बच्चे के बारे में सोचता है?उसे जोरदार झटका लगा था।

'अभी तो आपसे ही फुरसत नहीं है, क्या करूँ, क्या न करूँ।' उसके मुँह से निकला ही था कि खींचकर थप्पड़ जड़ दिया उसके गाल पर उसने। वह दर्द से बिलबिला उठी थी। उसके दुबारा उठे हाथ को कसकर पकड़ लिया था उसने।'

'हाथ पकड़ती है हरहट!' और इसके साथ ही कसकर लात पड़ा कोख पर, जहाँ कोई बसेरा करने लगा था। वह दूर जाकर गिरी थी।

'अरे, कोई बचाओ! मुझे यह शैतान मार डालेगा।' वह बेतहाशा चिल्लाने लगी थी। उसकी आवाज सुनकर कोई आता, इसके पहले ही उसने उसके मुँह पर हाथ रखकर उसे बंद कर दिया।

'अरे, ये क्या करती हो?आपस की बात और है, थानेवाले आ गये तो मुझे अंदर कर देंगे, फिर क्या खाएगी?क्वार्टर से निकाल देंगे, कहाँ रहेगी?बेवकूफ! वह उसकी बाँहों में कसमसाई। शेष पूरी रात वह उसे भाँति–भाँति से मनाता रहा।

सबेरे वह संतुष्ट था और वह बार–बार बाथरूम जाकर कपड़े बदल रही थी। उसकी कमर और पेडू में भयानक दर्द उठ रहा था। थोड़ी–थोड़ी देर में मरणांतक पीड़ा की लहर दौड़ रही थी उसके उदर में। वह स्वयं एक कप चाय बनाकर ले आया उसके लिए।

'मुझे अस्पताल ले चलिए, मेरी तबीयत बहुत खराब है।' वह कराह रही थी।

'मैं ठीक कर दूँ?' उसकी आँखों में खेल रही शरारत का आशय समझकर वह काँप उठी।

'रहने दो ठीक हो जाऊँगी।'

'कुछ रुपये हों तो दे दो।' वह नर्मी से बोला।

'सारे तो ले गये, अब कहाँ बचे!'

'क्या मैं ही खा गया?जो कुछ करता हूँ तुम्हारे लिए ही तो! क्या सारा सुख मुझे ही मिलता है?तुम्हें कुछ नहीं मिलता मुझसे?' वह सुबह–सुबह फिर लड़ने पर आमादा जान पड़ा था।

'वेतन आधा मिलता है, तो खर्चे भी कम करो न ऽ ऽ!'

'अरे! अब तो यह मुझे सिखाएगी लगता है?चल यह टॉप्स दे दे, गिरवी रखूँगा, वेतन मिलने पर छुड़ा लेंगे!' वह उसका सिर अपने आगे करके टॉप्स उतारने लगा।

'एक बात बोलूँ?' उसने स्वयं को संयत रखकर पूछा।

'हाँ बोलो।'

शराब खरीदकर पीने से बहुत महँगी मिलती है। आप सामान ला दीजिए मैं बना दिया करूँगी घर की बनी में नशा भी ज्यादा रहेगा और चौथाई दाम लगेगा।' सारा दुःख भूल कर उसने यह सुझाव दिया।

'तुम्हें बनाना आता है?' उसने आश्चर्य से उसे देखा।

'हाँ! हमारे गाँव में तो सभी अपने–अपने पीने के लिए बना लेते हैं। महुए के फूल सीजन में ही इकट्ठा करके रख दिया जाता है। लकड़ी फाटे की कमी नहीं, बस्स थोड़ी सी मेहनत लगती है।'

बाप रे! यह तो छुपा रुस्तम निकली। उसने म नहीं मन कहा।

'तुम्हें पता नहीं शायद, बिना लाइसेन्स के शराब बनाना कानूनन जुर्म है।' वह बेहद गंभीर था।

'मैं यह सब नहीं जानती, जब खरीदकर पीना मना नहीं है, तो बनाना क्यों मना है?जैसे अपने लिए खाना बनाते हैं, वैसे ही शराब बना सकते हैं!'

'बेवकूफी भरी बातें मत किया करो। यदि सभी अपने लिए बनाने लगे तो सरकार को टैक्स कहाँ से मिलेगा?हम पुलिसवाले हैं, ऐसे लोगों को पकड़कर सजा

दिलवाना हमारी ड्यूटी है और फिर यह पुलिस क्वार्टर है। बात फैलते देर नहीं लगती, दुबारा ऐसी बात मत करना। अच्छा! मैं आता हूँ, तुम कुछ बना लो खाने के लिए, वह कपड़े पहनकर बाहर निकल गया। जाते–जाते बाहर से दरवाजा बंद करता गया।

'तो क्या सरकार को पैसा देकर आदमी जहर भी पी सकता है ऽ ऽ?' वह जोर से चिल्ला पड़ी, उसके कंठ से रुदन के स्वर फूट पड़े।' हाय राम! कहाँ फँसा दिया?यहाँ तो अड़ोसी–पड़ोसी बोलते भी नहीं। हमारे गाँव में एक आवाज पर सारा गाँव उमड़ पड़ता है।' वह इतने जोर–जोर से बोल रही थी कि दीवार के उस पार से पड़ोसन को सुनाई पड़ जाए।

थोड़ी देर बाद बाहर से सांकल खोली गई, एक अधेड़ औरत ने घर में प्रवेश किया। उसने हठात् मालती को अंकवार में भर लिया।

'मैं तेरी सारी तकलीफें जानती हूँ मेरी बच्ची! परन्तु रोहन की दुष्टता के कारण चुप रहती हूँ। ये ले मोबाईल, तुरन्त फोन लगाकर अपने पापा को बुला और निकल जा यहाँ से! तू क्या जानेगी, बड़ी ने दस साल कैसे बरदाश्त किया, अंत में उसे अग्नि स्नान करना ही पड़ा। स्त्री को पीड़ा देकर रोहन को संतुष्टि मिलती है। लगता है पी–पीकर इसका दिमाग फिर गया है।'

उसने जल्दी से मोबाईल ऑन करके पापा से बात की। माँ की बीमारी के बहाने विदा कराने की बात समझाकर उन्हें तुरंत बुलाया। पड़ोसन जैसे आँधी की तरह आई थी, वैसे ही तूफान की तरह चली गई। रोहन दर्जनभर अंडे और शराब की बोतल लेकर जल्दी ही वापस आ गया।

'अब तो मेरे नाटक करने की बारी है मिस्टर रोहन! मुझे पता नहीं था आपके बारे में, इसलिए इतना सह लिया।' मालती ने सारे दर्द पर विजय पाकर उसके लिए अंडाकरी, आलू की भूजिया और भात बनाया। गरम–गरम दो पराठे भी सेंक दिये। वह अपनी पसंद का खाना देखकर प्रसन्न था।

'मैंने ठीक नहीं कहा जी?रही बात लोगों की तो उन्हें पता भी नहीं चलेगा, यह मेरा दावा है। या फिर मायके जाने दिया करिये हफ्ते में एक बार, वहाँ से आठ–दस बोतलें ले आया करूँगी। आपको किसी चीज की कमी नहीं होगी।' वह उसे घुलमिलकर बातें कर रही थी।

'अस्पताल चलोगी क्या?' वह जरा द्रवित हुआ।

'रहने दीजिए! वैसे भी आपके पास पैसे नहीं हैं, अच्छा लगे तो दो दिन के लिए मुझे सैदा भेज दीजिए।'

'मैं कैसे रहूँगा तुम्हारे बिना'?वह मुँह का कौर चबाते हुए बोला।

'आप भी छुट्टी लेकर आ जाना, फिर दोनों वापस आ जाएँगे।' उसने पटाक्षेप किया।

दूसरे दिन ससुर को आया देख वह हड़बड़ा गया। उसे दाल में कुछ काला प्रतीत हुआ, वह कल से ही जाने की रट लगाए हुए है और आज यह आ गया बिना किसी सूचना के!

'कैसे आना हुआ पापा जी का?' उसने मालती से पूछा था।

'माँ की तबीयत खराब है, उन्होंने मुझे बुलाया है, प्लीज ना मत करियेगा। पता नहीं कैसी हालत है उनकी।' वह रोहन के आगे गिड़गिड़ा रही थी।

पापा को उसने पहले ही समझा दिया था फोन की चर्चा न करने के लिए। वह टालमटोल करता रहा, किन्तु उसे रोक न सका।

'आपको मेरी कसम है, जल्दी से जल्दी आ जाना मेरे घर! मैं आपका इंतजार करूँगी।' मालती ने विधिवत् विदाई ली।

'ऐसी क्या बात हो गई बेटी! हमलोग एकदम से हड़बड़ा गये थे, कहीं इस प्रकार फोन किया जाता है?' माँ ने स्नेह भरी झिड़की दी। उत्तर में उसने ब्लाउज उतारकर उनके हाथ में दे दिया।

सीना, कमर, पीठ, पेट सब जगह ढेरों चवन्नी के बराबर जले के घाव, ढेरों दाग, साया उतारकर जाँघों के घाव दिखलाये, पेट की चोट से गर्भ स्राव हो गया था। रक्त स्राव अब भी जारी था। माँ उसे हृदय से लगाये देर तक रोती रही। पापा ने अस्पताल ले जाकर इलाज करवाया। चार माह में उसका वजन दस किलो कम हो गया था। चेहरा श्रीहीन गाल पिचके और सामने के दाँत बड़े दिखने लगे थे, वह तो माँ से भी बड़ी नजर आ रही थी।' कुछ खातिरदारी करनी चाहिए पतिदेव की! आना तो पक्का है; क्योंकि उसे पूरा विश्वास था कि वह उसके मनोभावों से अपरिचित था।

उसके सारे गोल धब्बे एक साथ जल उठे, वह ऐसे छटपटाई जैसे ताजे फोड़े रगड़ खाकर अभी ही फूट रहे हों।

वादे के अनुसार घर के पिछवाड़े मटकी चढ़ाकर एक नंबर की दारू उतरवाई। इसके तेज को सहना सबके बस की बात नहीं।

तीसरे दिन एक जिम्मेदार पति की तरह वह सास का हाल–चाल पूछता, सबने पहले जैसे ही मान–सम्मान किया, वह पूरी तरह आश्वस्त था।

तालाब से मारकर लाई गई रोहू मछली और हाथ की उतारी शराब। मज़ा आ गया भई ससुराल का। उसके लिए अलग कमरे की व्यवस्था थी।

'बड़े गुरु हैं जानते हैं बेटी–दामाद मिलना–जुलना चाहेंगे, या हो सकता है मालती ने ही होशियारी से यह व्यवस्था करवाया हो, नशा गहराता जा रहा था। वह मालती के दबे पाँव आकर बगल में सो जाने का इंतजार कर रहा था। नंबर एक अपना असर दिखा रही थी, आँखें मूँदी जा रही थीं।

नींद और नशे के प्रभाव से वह बेसुध चाह रहा था कि कमरे मे कुछ हलचल हुई, कुछ परिछाइयाँ झिलमिलाई। हाथ–पैरों में कुछ तनाव का अनुभव हुआ। लगा जैसे उसे कसकर बाँधा जा रहा है। चढ़ने से पहले ही उसका सारा नशा हिरन हो गया। हाथ में डंडे लेकर चार युवक और चप्पल लेकर चार युवतियाँ धीरे–धीरे उसकी ओर बढ़ रही थीं। आसन्न संकट देख उसकी सारी हेकड़ी निकल गई। वह घिघियाने लगा। पहला डंडा पड़ने से पहले वह चीखने लगा।

'अरे! मुझे क्यों मारते हो?दामाद की ऐसी ही खातिरदारी की जाती है तुम्हारे गाँव में ऽ ऽ ?'

तड़ातड़! तड़ातड़! चारों ओर से डंडे बरसने लगे। उसकी चीख से कमरे गूँजती रही। लड़कियाँ उसके सिर पर चप्पल बरसा रही थीं।' जिसने तेरे साथ जीने–मरने की कसमें खायीं, उसे अकेली पाकर मारता है?ये ऽ ऽ ले ऽ ऽ जरा ढंग से दो तो दो–चार हाथ।' यह पड़ोस में रहनेवाली लड़की थी, शादी में बहुत लाड़ लड़ा रही थी। उसकी कीलदार चप्पल उसके चेहरे पर पड़ी थी।

'इसके कपड़े फाड़ दो तो!' वह नंग–धड़ंग पड़ा था इतने लोगों के बीच।' इसे जले का दर्द बहुत आनंद देता है, बेचारा दामाद है खातिर करो इसकी!' वही औरत फिर बोली। चारों युवक के हाथ में सिगरेट नाच उठीं।

'अरे! अरे ऽ ऽ ऽ ऽ रे! मुझे मत जलाओ मेरे बाप! छोड़ दो तुम्हारे पाँव पड़ता हूँ। ऊ... ऊ... अरे बाप रे! जला डाला हैवानों ने।' वह चिल्ला–चिल्ला कर रो रहा था।

'पेट, पीठ, बाँहें, चेहरा सब हो गया?'

'अभी जाँघों के बीच बाकी है।' एक ने निर्लिप्त भाव से कहा। नहीं बाप! तुमरे गझे छोड़ दो। मालती! ओ मालती! कहाँ हो तुम?बचाओ मुझे इनसे!'

'मैं पुलिस का जवान हूँ, बाद की सोचो जरा! दूर हटो मुझसे! वह पलंग पर बंधे–बंधे कसमसा रहा था।

हाँ ऽ ऽ! उसने निश्वास छोड़ी।

'अच्छा लगा न ऽ ऽ जीजा जी!' उसने जैसे उसकी बात सुनी ही न हो।

'अब थोड़ा रगड़कर नमक–मिर्च डाल देते हैं, पूरा आनंद ले लीजिए। वह युवक पूरी तरह संजीदगी से बोल रहा था।

भगवान के लिए मुझे माफ कर दो। मैं कान पकड़ता हूँ किसी को नही जलाऊँगा।' वह पूरी ताकत से छटपटाया।

'भैया! बहुत हुआ, अब इसे छोड़ दो! अपनी करनी का फल भोगे जाकर। मालती दरवाजे पर हाथ जोड़े खड़ी थी।

कहानी :

लसहरा

राणाप्रताप सिंह
मटिटनिया खुर्द, कुशीनगर, उ.प्र.
मो0–9452048594

धान की कटनी छाती तक आ गई है। इसी महीने में मोहर्रम की ताजिया, दोनों को निवाहना है, तब कहीं जाकर खेती का काम पुँग पायेगा। खेत–खेत के किसान दिन–दिनभर धान की कटनी में लगे रहते हैं, परन्तु फिरोज को इससे क्या जरूरत?वह तो दोस्तों के साथ ताजिये के काम में लगा है। उसकी माँ–बहनें भले दिन–दिनभर चिलचिलाती धूप में कटनी करते रहें। इससे उसको क्या...। बिरादरान की नज़र में वह तो मजहब के काम में लगा है। उसकी माँ–बहनें खेत–खलिहान से दूर घर–गृहस्थी तक लगी रहती, तब कहीं जाकर घर के लोगों को भोजन नसीब होता। बेटियाँ तो दूसरे की सौगात है। फिर भी उन्हें घर के काम से दम भी लेने की फुर्सत नहीं मिलती। तब क्या वे ऊँच–नीच सोचे।

माँ भले बेटियों की निकाह की बात को लेकर हलकान रहती, परन्तु उसके वालिद तो अकरम पर आकर अटक जाते कि किसी तरह गड़पार लगा देता, तो हम गंगा नहा लेते। उसकी निकाह हो जाने के बाद भले लोक–लाज की आड़ में कुछ आराम कर लें। फिर बाल–बच्चेदार होने पर तो उसी कोल्हू में बँधा जाना है, जिसमें वे अबतक बँधाते आयी हैं।

गाँव की उदासी में तीज–त्योहार उत्साह की तरह आता है, जिसमें हँसी–खुशी के मेल–मिलाप तो होते रहते हैं। उसी उत्साह में परदेश गये परदेशी भी त्योहार मनाने गाँव आ जाते हैं। आसमा और रेहाना फिरोज की सगी बहनें हैं। जिनको फुर्सत ही कहाँ मिलती कि देह का शौख करे। मिया का कुछ पता नहीं रहता कि दिन–दिनभर कहाँ गुम रहते। नमाज, फातिहार के बहाने फुर्सत ही फुर्सत। धर्म–मजहब तो कामचोरों के लिए बाहर ही वहार लिये रहता। घर के और लोगों के चेहरे भले मुरझाये रहें, उनको इससे क्या... वे तो सदा फूल की तरह खिले रहते। पॉकेट में रुपये–पैसे की कोई कमी नहीं रहती। चढ़ावे चढ़ाने के बहाने घर के काम भले फाँक रहे, उनको इससे क्या... वे तो दिन के काम में लगे हैं। धर्म–मजहब के काम में कैसी दीनता, इसको तो धनिकों की तरह मनाना है।

ताजिये की आगवानी में ढाँक, ताशे की आवाज सिंह की दहाड़ की तरह लगता। 'अल्ला हुँ अकबर' अल्लाह मियाँ की अरदास में गायी गई झारी, मेले के हुड़दंग के शोर–शराबे में गडमड हो रही–अल्लाह हुँ अकबर के नारे में उत्साह ही उत्साह झलकता। छरक–छरक कर नवहेंरियाँ लड़के नारे लगाते नारे तकवीर अल्ला हुँ अकबर। ताजिया आगे–आगे बढ़ रही थी, पीछे– पीछे बूढ़े–जवानों में जनानियाँ भी साबूरन पीर की गीत गा रही थीं।

राह में कहीं कोई दरख्त हाथ–पाँव फैलाए समाज को शुद्ध हवा फल दे रहा है तो क्या हुआ?इसकी ये मजाल कि सड़क में फैलाए। इसकी तो नियति है देते रहना। परन्तु इस्लाम के हनक में अदब से रहने की तमीज सिखायी जाती। फैल आये सड़क के किनारे पेड़ों की डालियाँ ताजिये की राह में कहीं कोई अडंगा न लगाए। देखते–देखते कई पेड़ों की डालियाँ काट दी गयीं। पीर के आँसू रोते। पूछते समाज से कि मेरा क्या कसूर है?अब किसको वक्त है कि इन मजलूमों पर सोचे। सब अपने–अपने काम में व्यस्त। ढाक–ताशे की धुन में गोल–गोल घूमकर झारी गातें–'भेजतू कौनो आजू सनेसवाँ माई कि बतियाँ का कहीं...।' मगन ही मगन, परन्तु झारी गानेवालों के चेहरे पर रूमानियत छायी रहती। दिन में दिवानगी तो उस अदृश्य शक्ति की खोज में समाहित है, जिसको मनुष्य सनातन से खोजते आ रहा है।

मेले की शोर–शराबे में बच्चे खूब उछल–कूद रहे थे। मिठाइयाँ, सेवइयाँ जकात की बाँटी जा रही थीं। बतासे–मूँगफली को कौन पूछता, यह तो गरीबों के निवालें हैं। कई गाँवों की ताजियाँ इसी करबला पर आती हैं। अपने–अपने सलूक और अदब से दायें–बायें का खेल खेलने।

दूर–दूर से आयीं ताजिया अपने–अपने खेमे में बँट रही थीं। ताजिया मिलन में कौन किसके दायें, तो कौन किसके बायें मिलेगा, यह तो बड़े बुजुर्ग जानें। बच्चों को क्या?वे तो खुशी से लोटपोट हो रहे थे। वे तो बड़े–बूढ़ों में दिन के आलौकिक हिसाब माँगते।

फिरोज अकरम महीनों मेहनत करके ताजिया बनाये थे, तब जाकर आज करबला तक आयी हैं। मेले के शबाब में औरतें भी थीं। उन्हीं में आसमा और रेहाना थी। कितनी भोली–भाली ताजिए की में कुम्हला रही थी। घर–गृहस्थी के साथ अपने लिए, दिन के लिए भी तो अरदास करनी है। इसमें फुर्सत कहाँ मिलता कि देह का सँवारन करे। त्योहार की वजह से आज भले नहा–धोकर आयी हैं, यह रोज–रोज अवसर मिलता?बक्से का रखा हुआ झम्फड़ पहनी थी। मैले–कुचैले कपड़े में देह फबती कहाँ और नहीं तो मरियल जैसी लगती, परन्तु आज तो फूल की तरह खिली है। उस ओर बार–बार अकरम की निगाहें उठ जाती, फिरोज से छिप–छिपकर देख लेता। वह भी कितनी भोली–भाली चाँदनी की तरह चमक रही थी, छुप–छुप करके ही तो दिन में नूर झलकता, जो बिरले उसे देख पाता है।

उसे यह पता है कि नहीं, अकरम को क्या पता। फिरोज उसे पुकारा–'चलो, कुछ खाया–पिया जाए। मेले की सौगात तो मिठाइयाँ हैं। इसी लसहरे में हम यहाँ खिंचे चले आते हैं।'

अकरम उसकी तरफ देखते कहने लगा–'मेले का लसहरा तो शहद की तरह होता, जिसको पाने के लिए लोग खुद व खुद चले आते हैं। रंग–बिरंगे परिधानों में सजे–सँवरे लोग जब भीड़ से टकराकर निकलते तो कितना सुखद अनुभूति होता। यह अनुभव तुम कभी किये हो?'

हाऽऽ हाऽऽ! तुम खूब कहे। दोनों कहकहे लगाते मिठाई की दुकान की ओर बढ़ गये।

दीनानाथ भी आने के लिए कह रहा था। लेकिन उससे बिन बताए मैं मेला आ गया। अब तुम्हीं बताओ, उसके साथ तो हम रोज रहते ही हैं। आज के दिन तो उससे दूर रहा जाए। यहाँ नापाक काफिर की क्या जरूरत?फिरोज अकरम से कह रहा था।

फिरोज की ओर कम और मेले की भीड़ में ज्यादा देख रहा था। देखते–देखते एकाएक चौक गया। यह क्या?दूर से इशारा करते हुए कहने लागा–'वहाँ देख, दीनानाथ भी आ गया।'

दीनानाथ उसके पास आते कहने लगा–'अरे भाई! मैं भी साथ आ गया रहता तो तुम दोनों का क्या बिगड़ जाता?कहाँ नहीं तुम दोनों को तलाशा, अब जाकर यहाँ मिले हो। वह उसके साथ भरे खरदोने की ओर देख इशारा करते कहने लगा। क्या मेरे भी नसीब के लिए लिखा है कि..?फिरोज ने तपाक से कहा–'नहीं।'

अकरम दोनों को बातें करते देखा तो वह वहाँ से आँख बचाकर निकल गया। जल्दी–जल्दी मिठाइयों से भरा खरदोना खरीदकर आसमा की ओर लपका। बेचारी कहीं मेले की लसहरे से वंचित न रह जाए। आज उसे मेले की लसहरे में लसिया लेना है।

वह राह चलते मन ही मन कयास भी लगाये जा रहा था। कहीं गयी थोड़े होगी?वह तो इमाम बाबा के इर्द–गिर्द ही होगी। मेले के अवसर पर तो उन्हें भी मेला करने के लिए घर से कुछ रुपये मिल जाते कि मन मोताबिक मेला कर सकें। खेत घर में काम करनेवाला भी आज के दिन उल्लास में उड़े जाते। हारी– दुखियारी तो लगा ही रहता है। इसकी चिंता आज के दिन कौन करे। सब कुछ भूल–भालकर

आज के दिन मगन रहना है।

भीड़–भाड़ से बचता वह इमाम बाबा के पास पहुँच गया। जहाँ आसमा और रेहना मूँगफली के दाने फोड़ रही थीं। अकरम को आते देखी तो वह अकचका गई–'अरे जनाब! कैसे राह भटक गये।' अकरम हाथ का खरदोना आसमा को पकड़ाते कहने लगा–'कुछ दानें मेरे भी नसीब के लिए बचे हैं कि...।'

आसमा की मुट्ठी में अभी भी कुछ दाने बचे थे। वह मुस्कुराती देने के लिए हाथ आगे बढ़ाई कि इसी लेन–देन की भीड़–भाड़ में उसकी अंगुलियाँ छू गयीं। वह छुई–मुई की तरह सकुचा गयी–'ऊई माँ! कहीं भैया न देख ले।'

वह तो दीनानाथ से दिल की बात कह रहे हैं। उन्हीं से बचकर मैं यहाँ आ गया। यह छोटा–सा भेंट आपके लिए लाया हूँ, अकरम निवेदन में हाथ जोड़ लिया।

उलाहना देती आसमा ने अकरम से कहा–'नाहक में पैसा बरबाद किये। कुछ क्षण के लिए जीभ के स्वाद, बाद के लिए कड़वाहट बन जाती है।'

बात को बदलते अकरम कहने लगा–'देखिए न टेढ़ी–मेढ़ी जिलेबी आज ही की तरह गरमागरम रसदार है। इसमें रुपये पैसे की क्या बात जीवन है तो बहुत कुछ आ जाएगा।

अकरम खरदोने से एक जिलेबी का दाना उठा लिया। आसमा उससे बतियाती अपने आपमें सकुचा भी रही थी कि कहीं माँ मौके वारदात न आ धमके। सब पोल खुल जाएगी। लानत– मलानत होगी, वह तो अलग बात है। सभी मिल–बैठकर एक साथ जिलेबी का आनंद ले रहे थे। बातों के सिलसिले में आसमा की बातें अकरम को जिलेबी की तरह रसदार लग रही थीं। वह इसी अवसर के ताक में था। उसके खुले होठों के बीच चमकते दंतावली में जिलेबी खिला दिया। वह खिल–खिलाकर चहक गयी। जल्दी– जल्दी चुभलाकर हलक के नीचे उतार ली। 'आप भी न हद करते हैं।' आँख तरेरकर कहने लगी। आँखों में उलाहना के कई प्रश्न थे, फिर भी उसकी परवाह न करते हुए शेष बची जिलेबी वह स्वयं खा लिया। वह उसे झिड़की 'धत्त तेरे कि मेरा जूठा खाते हैं।'

यह तो शबरी के बेर की तरह है। अकरम उसके गाल के पास फुस–फुसाकर कहा। उसकी गर्म साँसों की धमक से उसकी बदन सिहर गयी। हक्की–बक्की इधर–उधर देखने लगी। भीड– भाड़ में सब कुछ जायज था। यहाँ किसको फुर्सत है कि खुफियागिरी करें। तभी रेहना उसको आगाह की–माँ! गृहस्थी में लगनेवाला सामान लेने मेले की दुकान पर चली गयी थी। गाँव पुरवें के लोग अपनी जरूरत की चीजें इसी मेले–बाजार से लेते हैं। लड़कियों के लिए मूँगफली खरीदकर दे गयी थी कि वह तबतक इसी में अझुराई रहें। मेले बाजार में इनकी कौन सुरक्षा करे, वह उन्हें साथ ले जाती। बात–बात में सोंहदो का ईमान डगमगाता रहता है।

माँ के डर से आसमा सकपका गयी। ताजिये की ओट में छिपकर अपने आप में व्यस्त हो गयी। अकरम मुँह पोंछता उसकी भीड में गुम हो गया।

वहाँ की स्थिति पर उसे कुछ असहज लगा। पूछ बैठी–'कोई आया था क्या?' 'नहीं तो।' रेहना बोल पड़ी।

'अरे! सयानी न बनो। चोर चोरी करके भले चला जाए, परन्तु कुछ न कुछ जरूर छोड़ जाता है। दोनों कसमें खाने लगीं। वह डपटकर आसमा से पूछी–'सही बता, वह आया था।' वह पैर के अंगूठे से जमीन कुरेदती, पर बोली कुछ नहीं। पुनः उसकी माँ कहने लगी–'तुम बताओ या न बताओ, वह खरदोना बता रहा है कि वह आया था।' उसकी माँ खिलखिला गई। कहने लगी–'छिप छिपकर मिला जा रहा है कि किसी को भनक न लगे। परन्तु प्रेम का लसहरा तो अपने आपको चिपका लेता है, जो सभी लोगों को दिखाई देने लगता है।

वह रुआँसी होती कहने लगी–'उसकी भी खबर लेती हूँ। बड़ा हैंसियतदार बनता है। लड़कियों के लिए मिठाई सौगात लाता है। बात करके देखती हूँ कि मेंहदी की सुहाग से लाड़–प्यार की बाड़ सजाता है या ऐसे ही दिवा स्वप्न दिखाता है। छिप–छिपकर क्या हुटुकना।' उसकी माँ आसमा की साध रखने के लिए सोचने लगी।

वह हाँफते–हाँफते फिरोज के पास आ गया। वहाँ वह अकेले गुमसुम बैठा मिला। वह उससे बुझे आवाज में पूछा–'कहाँ चले गये थे?' 'कहीं नहीं, यहीं तो हूँ।' अकरम ने उससे पूछा–दीनानाथ कहाँ चला गया?' अकरम उससे कहने लगा–'वह तो हमलोगों के लिए काम का आदमी है। उसके बिना घर–गृहस्थी के काम में हम एक कदम भी चल पायेंगे?' फिरोज के मुरझाये चेहरे पर चाय की चुस्कियाँ काम आयीं। धीरे–धीरे उसका मिजाज ठिकाने लगने लगा, आहिस्ते–आहिस्ते कहने लगा–'मैं भी बिना जाने समझे उसे बुतपरस्त काफिर कह दिया। इन मुल्ला–मौलवियों की बात में आ गया। जो हर समय दिन मजहब के नाम पर बेमतलब की बातें किया करते रहते हैं। सुन रहे हो। अगर वो बुतपरस्त है, तो हम कहाँ पीछे हैं। उन्हीं की तरह हिन्दू–संस्कृति में चलते हैं कि नहीं, पीर–फकीर की मजार पर चादर चढ़ाते, ताजिया घुमाते, लोहवान अगरबत्ती जलाते हैं। शहंशाहों, सुफियाना मिजाज के पीर–फकीरों के जनाजों को मजार बनाकर अबतक इबादत करते आ रहे हैं। यह लाशपूजा नहीं है तो क्या है?अघोरी तो लाश–पूजा करके आग से उसे पंचभूतों में बदल देते हैं। हमीं लोगों की तरह वे लोग भी देवताओं की पालकी डोल उठाते हैं। विशेष स्थान पर विसर्जित करते हैं। हिन्दुस्तान में हिन्दू संस्कृति के प्रति जनता कितनी सजग रहती है। कदम–कदम पर एक दूसरे की तरह त्योहार मनाते हैं।

अकरम उसे सचेत करते हुए कहा–अरे! यह क्या?भगदड़ कैसी?दोनों सिर पर हाथ रखकर बेंच के नीचे छिपने के लिए जगह तलाशने लगे। उधर से ललकारते भद्दी–भद्दी गालियाँ देते आक्रामक दल इधर दौड़ते आ गया। लाठी–डंडे से लैस किसी–किसी के हाथ में चैलें भी थे। जैसे किसी दुश्मन पर आक्रमण किये हों। वे ललकारते कह रहे थे–'उसकी ये मजाल कि हमारे दाहिने मिलेगा। पुरखें जमाने से बायें रहनेवाला आज कैसे दाहिने आ गया। यह अनैतिक हम बर्दाश्त नहीं करेंगे।'

मेले में घमासान मच गया। करबला कर ताजियाँ देख रही थीं कि लोग अपना–अपना दामन बचा रहे हैं। लोगों की चीख पुकार में हाहाकार मचा है। अब कौन किसको देखता है?जिसकी लाठी उसकी भैंस।

दूसरे दिन होत प्रात अकरम के दरवाजे पर फिरोज के पिता पधारे हैं। अकरम को लगा कि कहीं मेले वाली बात का पता इन्हें नहीं न लग गया है, जिसका ओरहन देने यहाँ आये हैं। डरे मन अकरम घर में ही दुबक गया। उसके पिता उससे बतियाये जा रहे थे। दोनों के बातचीत से उसे कोई मनमोटाव वाली बात नहीं नजर आती। काफी घुल–मिलकर बतिया रहे, तबतक उसे पिता अकरम–अकरम! का हाँक लगाये–'अरे! घर में क्या कर रहे हो?दरवाजे पर मेहमान आए हैं। इनके लिए घर की कोई मरजाद है कि नहीं।'

अकरम उनकी सेवाभाव में हाजिर हो गया। जोड़–जुहार तो किया ही, जलपान और पान–पत्ती तक करा दिया। आन गाँव से आये किस अजनबी को गाँववाले देखे, तो एकाएकी कई लोग आ गये। उन दोनों की बातचीत की भनक उनके कानों तक गया– 'ऐ क्या?' बाद में उन्हें पता चला कि वे अकरम का हाथ माँगने आये हैं। राजी–खुशी से अकरम और आसमा की निकाह की बात चली तो कुछ ना–नुकुर के बाद तय हो गया। दान–दहेज तो लड़की होती ही है। उनके वालिदैन भी जानते हैं कि इनमें मेल मुहब्बत के चिराग बरसों से सुलग रहे हैं, तो इसकी सुरक्षा करना है कि नहीं।

निबंध

नुक्कड़ नाटक का सामाजिक सरोकार

नितप्रिया प्रलय, शोधार्थी
महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
वर्धा, महाराष्ट्र, 9423607094

'नुक्कड़ नाटक' नाटक के क्षेत्र में एक नया प्रयोग है। साहित्य और नाटक के विद्वानों ने शुरूआती दौर में इसे नाट्य विधा मानने से इंकार कर दिया था, परन्तु यह नाट्य रूप 8वें दशक के दौरान काफी लोकप्रिय हुआ। कई ख्यातिप्राप्त नाटककार और रंगकर्मी इस नाट्य रूप (नुक्कड़ नाटक) से जुड़े और साथ ही इस नाट्य रूप ने रंगमंचीय नाटकों को भी प्रभावित किया।

नुक्कड़ नाटक को अंग्रेजी में 'स्ट्रीट प्ले'(जतममज च्सल) के नाम से संबोधित किया जाता है। कुछ लोगों ने इसे 'चौराहा नाटक' भी कहा है, किन्तु यह नाम प्रचलित नहीं हो सका। नुक्कड़ नाटक अपने नाम के अनुरूप ही किसी सड़क के चौराहे पर, किसी फैक्टरी के गेट पर, किसी पार्क, गली या मुहल्ले के नुक्कड़ पर प्रदर्शित होनेवाला नाट्य रूप है–यह (नुक्कड़) वह जगह होता है, जहाँ पर आम आदमी, मजदूर, किसान तथा शोषित तबके के लोग एक–दूसरे से मिलते हैं और आपस में अपना सुख–दुःख बाँटते हैं। नुक्कड़ नाटक आमजनता के लिए उसी की भाषा में, उसी की समस्याओं को आधार बनाकर खेला जाता है। इन नाटकों का उद्देश्य देश की जनता को राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक अर्थात् उन सभी मुद्दों से अवगत कराना होता है। जिसके आधार पर व्यवस्था(लेजमउ) उनके शोषण– उत्पीड़न में संलग्न है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि नुक्कड़ नाटक चेतना के धरातल पर आमजनता को एक जुट करके शोषण और उत्पीड़न के विरोध एक बेहतर मानवीय समाज के निर्माण की भूमिका में दिशा देने का प्रयास करता है। नुक्कड़ नाटकों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका इस अर्थ में भी है कि वह यथास्थित को तोड़ने और उस अंतरविरोध को सामने लाने का प्रयत्न करता है, जिसे पूँजीवाद ढकना चाहता है। उसे समाज के प्रति उत्तरदायित्व का स्पष्ट प्रमाण है।

भारत में नुक्कड़ नाटक सबसे पहले इप्टा (इंडियन पीपुल्स थिएटर ऐसोसिएशन या भारतीय जननाट्य संघ) के द्वारा प्रदर्शित किया गया। जिसका उद्देश्य गरीब एवं शोषित तबकों की समस्याओं से आमजनता को अवगत कराना था। नुक्कड़ नाटक का जन्म तथा विकास जनवादी नाट्य आंदोलन के साथ–साथ हुआ है। स्वातंत्र्योत्तर युग तथा आपातकाल के समय जो जनवादी नाट्य आंदोलन हुआ, उसके तहत वामपंथी विचारधारा प्रभावित नाट्य निर्देशक ने अपनी लोक–नाट्य परंपरा को नई ऊर्जा देते हुए उसका प्रयोग अपने समाज तथा परिवेश के अनुरूप किया, जिसका विकास नुक्कड़ नाटक के रूप में हुआ।

नुक्कड़ नाटक के विकास के बारे में प्रसिद्ध लेखिका 'प्रज्ञा' अपनी पुस्तक नुक्कड़ नाटक रचना और प्रस्तुति में लिखती हैं कि ''नुक्कड़ नाटक जिन परिस्थितियों में आकार ग्रहण कर रहे थे, वे भारतीय लोकतंत्र की यात्रा में जनवादी हस्तक्षेप की परिस्थितियाँ थीं। समाज का दलित–शोषित वर्ग अपने जनवादी अधिकारों की रक्षा के लिए और सत्ता की जनविरोध नीतियों के विरोध में गोलबंद हो रहा था। दलितों, महिलाओं, मजदूरों और किसानों के आंदोलन समाज में परिवर्तन की आकांक्षाओं के लिए संघर्षरत थे। ऐसे में नुक्कड़ नाटक इस संघर्ष का सांस्कृतिक हथियार बनकर उभरा और संभवतः सभी प्रगतिशील साहित्यिक रूपबंध नुक्कड़ नाटक जनता के बीच सर्वाधिक पैठ बनानेवाला रूपबंध बन गया।''

उसी पुस्तक में आगे लेखिका लिखती हैं कि आठवें दशक के दौरान उठ खड़े हुए व्यापक जनवादी आंदोलन के तहत अनेक नुक्कड़ नाटककार, उनके द्वारा लिखे गये अनेक नाटक और उन नाटकों का आमजनता तक पहुँचानेवाली कई नाट्य मंडलियाँ सक्रिय हुईं। उस समय निकल रही कई महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं ने भी इन नाटकों को प्रकाशित किया। इन नाटकों ने आमजनता को उसके अधिकारों के प्रति सचेत करने, शोषणधर्मी व्यवस्था का नकाब उघारने और यथास्थिति को बदलने में तथा कला को सामाजिक परिवर्तन के महत्तर उद्देश्य से जोड़ने की प्रभावशाली भूमिका निभायी।

इस आंदोलन ने विभिन्न लोककला रूपों को पुनर्जीवित और पुनर्स्थापित किया। ऐसा भी कहा जा सकता है कि इप्टा ने सारे रंग–संस्कार को लोकधर्मिता से जोड़ा। भारतीय जननाट्य संघ के नाटककारों ने अपने–अपने प्रदेशों की लोकनाट्य शैली में नाटक लिखे। जात्रा, तमाशा, माच, नाचा, भवाई, नौटंकी, पवाड़ा, तेरुकुत्तू, बुरीकथा एवं ख्याल आदि लोकनाट्य शैलियों में तत्कालीन सामाजिक संघर्षों को अभिव्यक्ति मिली।किसान आंदोलन एवं मजदूरों की हड़ताल पर तत्काल नाटक रचे और खेले जाते थे। इप्टा के ज्यादातर नाट्य प्रदर्शन शहरों या गाँवों में हजारों की भीड़ के सामने किसी खुले मैदान में खेले जाते थे। इप्टा के इन प्रदर्शनों ने साधारण जनसमुदाय को राजनैतिक रूप में शिक्षित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

नुक्कड़ नाटक के दो प्रकार हैं–1 . जनवादी नुक्कड़ नाटक, 2 गैर जनवादी नुक्कड़ नाटक

जनवादी नुक्कड़ नाटक में सामाजिक यथार्थ के प्रत्येक आयाम को उभारा जाता है या समाज में व्याप्त समस्याओं का पड़ताल करता है, वहीं गैर जनवादी नुक्कड़ नाटक का मुख्य उद्देश्य केवल सरकारी तथा गैर सरकारी कंपनियों द्वारा चलाए गए कार्यक्रमों का प्रचार करना मात्र होता हे। उपयुक्त दोनों प्रकार के नाटकों में अंतर बताते हुए नीलिमा शर्मा कहती हैं, गैर जनवादी नुक्कड़ नाटक में पैसा बहुत होता है और प्रतिबद्धता बहुत कम।''स्वास्थ्य और स्वच्छता संबंधी नाटकों में यह तो बताया जाता है कि सफाई कैसे रखें,रोग को इन दवाइयों,उपचारों से खत्म करें। जैसे महिलाओं की स्थिति की स्थिति को ले तो अधिकांश में हीमोग्लोबिन बहुत कम होता है और वे बहुत–सी बीमारियों से ग्रस्त हैं, पर ये नाटक सिर्फ बीमारी का इलाज बताते हैं।जनवादी नाटक इन नाटकों से इस दृष्टि में भिन्न है कि वो बीमारी को व्यापक सामाजिक संदर्भों में देखते हैं।मसलन, औरतें क्यों अस्वस्थ हैं?इनकी समस्या का समाधान कुछ दिनों का इलाज नहीं, बल्कि खाने की समस्या, रोजगार, बेहतर जीवन परिस्थिति, शोषण अंत, सफाई, पैसा सभी कुछ है।इस मायने में जनवादी नुक्कड़ नाटक इनसे भिन्न है।''

जनवादी नुक्कड़ नाटक सामाजिक समस्याओं का समावेश अपने प्रदर्शन में करता है। जो जनतंत्र में पनप रही ताकतवर जनविरोधी शक्तियों का विरोध करता है। आगे कुछ नुक्कड़ नाटकों के उदाहरण द्वारा अपनी बात को विस्तार देना चाहूँगी।

नुक्कड़ नाटक एक ऐसी विधा है, जिसका कथ्य आम जनता से लेकर उन्हीं के बीच दिखलाया जाता है। आमजनता की ऐसी कोई भी समस्या नहीं होगी, जिसका समावेश नुक्कड़ नाटकों में नहीं किया गया है। नुक्कड़ नाटक के निर्देशक

ने सामान्य जन जीवन से जुड़ी समस्याओं का समावेश इस तरीके से किया कि दर्शक इस बात के लिए मजबूर हो उठे और अपने हालात के बारे में न केवल सोचे, बल्कि कुछ करने की शुरुआत भी किये।

स्वांत्र्योत्तर भारत में बुर्जुआ तथा सर्वहारा वर्ग के बीच का अंतर लगातार बढ़ने लगा था। उच्चवर्ग विलासिता पूर्ण जीवन जीने की लगातार कोशिश कर रहा था, जिससे कि सर्वहारा की स्थिति दिन–प्रतिदिन निम्न स्तर तक पहुँचने लगा। इसी सर्वहारा वर्ग के मजदूरों के शोषण की त्रासद स्थिति का चित्रण नुक्कड़ नाटकों में हुआ है।

जननाट्य मंच, दिल्ली द्वारा सामूहिक रूप से किये नुक्कड़ नाटक 'गाँव से शहर तक' के माध्यम से मजदूरों की वास्तविक स्थिति को उभारा गया है। मजदूरों की स्थिति इतनी दयनीय है कि उन्हें अपनी रोज़मर्रा की जिंदगी चलाना भी मुश्किल हो गया है। इस नाटक में बताया गया है कि घर–घर की यही कहानी है। बड़े पद/ओहदों पर विराजमान मालिक मजदूरों के प्रति कैसा रवैया अपनाता है, इसका पता दर्शक को सूत्रधार के माध्यम से पता चलता है। सूत्रधार कहता है–''बोनस के मामले में मालिक से लेकर लेबर कमीश्नर तक सबका एक ही रवैया है–बातचीत चल रही है, थोड़ा सब्र कीजिए।... हमने मिनिस्टर से जाकर शिकायत की तो उलटा हमें ही धमकाने लगा, तुमने कंपनी के गुप्त कागजात क्यूँ पढ़े?''

आगे अपने को सर्वशक्तिशाली मान बैठा मालिक एक ही प्रश्न पूछता है कि 'यूनियन की आवश्यकता ही क्या है?यह श्रमिकों का चित्त चंचल करती है, उन्नति के पाठ में बाधा डालती है।' औद्योगिकीकरण के कारण भारत में जो नई आर्थिक नीति तथा कार्य–विभाजन प्रयोग में आए उसके तहत मजदूरों को कई यातनाएँ झेलनी पड़ीं। जन नाट्य मंच का पहला नुक्कड़ नाटक 'मशीन' में मजदूर वर्ग की समस्याओं का चित्रण हुआ है। इस नाटक का नाम प्रतीकात्मक है। दिन–रात कार्य करनेवाले मजदूर वर्ग का प्रतीक है–मशीन। नाटक यह बतलाता है कि यह मशीन कभी भी नहीं रुकती, अनवरत चलती रहती है। सूत्रधार कहता है–''जी हाँ, यह है मशीन। लोहे की मशीन, कारखाने की मशीन मशीन का है एक मालिक और बहुत से पूर्जे यानी कि मजदूर। दिनभर चलती है और रात को भी।''

इस नाटक में मशीन को कामधेनु की बहन कहा गया है। यह ऐसी कामधेनु है, जो अपने मालिक की सारी आशाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति करने के लिए बाध्य है और जिनकी अपनी कोई आशा–आकांक्षा नहीं है। लेकिन मालिक के सारे आदेशों का पालन करने पर भी इसको मार–पीट खानी पड़ती है। मजदूरों पर होनेवाले इस प्रकार की शारीरिक पीड़ाओं का अंकन भी इस नाटक में है। मजदूर कहता है–''लात खाते–खाते भेजा ही खराब हो गया है। बताना ही भूल गया।''

अपने ऊपर होनेवाले जुर्म को कोई भी व्यक्ति आसानी से समझ लेता है। किन्तु अशिक्षित होने की वजह से शोषक के खिलाफ आवाज उठाने से शोषित डरता रहता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए नुक्कड़ नाट्य निर्देशकों ने शिक्षा की आवश्यकता और प्रधानता पर बल देने वाले नुक्कड़ नाटक का प्रदर्शन किया। जन नाट्य मंच, दिल्ली द्वारा प्रदर्शित साक्षरता अभियान पर आधारित नाटक 'पढ़ना लिखना सीखो' एक महत्त्वपूर्ण नाटक है। इस नाटक में मास्टर नामक एक प्रतीकात्मक पात्र की रचना करके उसके माध्यम से शिक्षा की जरूरत पर जोर डाला गया है। इस नाटक में शिक्षा की भूमिका को लेकर गाँववाले नाटक तैयार करते हैं, मास्टर नामक पात्र गाँव से बच्चे को इकट्ठा करता है और पढ़ाने का इंतजाम करता है। लोगों को शिक्षित करने की दिशा में मास्टर को कड़ी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। गाँववालों के सामने सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि उनका चूल्हा चौका कैसे चले, ऐसे में वे सहज ही प्रश्न करते हैं–''जब पेट की भूख आँत नोचती है, तब दिमाग के बारे में कौन सोच सकता है।''

इसी नाटक की स्त्री पात्र चंदा भारत की उन हजारों लड़कियों की प्रतिनिधि बनकर आती हैं, जिन्हें पढ़ने का शोक होते हुए भी स्कूल का चौखट देखा तक नसीब नहीं होता। चंदा का पिता गोकुल कहता है–'यहाँ लड़कियाँ यूँ ना निकला करती हैं बाहर, क्या करेगी पढ़–लिखकर?सँभालना तो इन्हें चूल्हा ही है।'

भारत की आजादी के बाद स्त्रीशक्तिकरण तथा सामाजिक परिवर्तन के उद्देश्य से महिला नुक्कड़ नाटक की शुरुआत हुई। स्त्री की समस्याओं पर केन्द्रित पहला नुक्कड़ नाटक 'ॐ स्वाहा' था, जो नारी रक्षा समिति की प्रस्तुति थी, वह 'देहजहत्या' विषय पर आधारित था। यह इतना लोकप्रिय हुआ कि समिति के पास इसके आयोजन करने हेतु अनुरोध पत्र के रूप में पूरे देश से आ रहे थे। कार्यकर्ताओं ने नुक्कड़ नाटकों के माध्यम से सामाजिक कुप्रथाओं को सबके सामने लाने का तरीका अपनाया।

भारत समाज में अधिकांशतः सामंती मानसिकता ही चलती है, जो नारी को हमेशा पुरुष नियंत्रण में देखना पसंद करती है। इस व्यवस्था के प्रति जिस स्त्री ने विरोध प्रदर्शित किया, उसे यह समाज हमेशा फटकारता रहता है। औरत नामक नुक्कड़ नाटक में यह दिखलाया गया है कि दिहारी पर काम करनेवाली एक औरत जब अपने मेहनताने पर आवाज उठाती है तो उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है।

स्त्रियों को घूरकर देखना मानो पुरुष का जन्मसिद्ध अधिकार है। जन–नाट्य मंच से नुक्कड़ नाटक 'यह भी हिंसा है' में इस बात की ओर संकेत मिलता है–''देखेंगे हर बच्ची को, जवान को, बूढ़ी को, हर औरत को... स्कूल में, सड़क पर, बाजार में, कॉलेज में, घर में, आफिस में... यहाँ तक कि मृत्यु की शय्या पर भी घूरेंगे उसे। इसमें हर्ज ही क्या है?ये तो हमारा मौलिक अधिकार है, आखिर हम एक आजाद देश के आजाद बासिन्दे हैं।''

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में व्याप्त लगभग सभी समस्याओं, शोषण/उत्पीड़न का इस्तेमाल नुक्कड़ नाटक अपने विषय के अनुरूप करने में सफल रहा है, जो कि नुक्कड़ नाटक के सामाजिक सरोकार होने की वैधता प्रदान करता है।

कविता

मुनि कुमार कुलश्रेष्ठ,
दमदम, कोलकाता,
मो0–09637966906

हिन्दी हैं हम

क्या लिखना है, क्या पढ़ना है
समझ नहीं कुछ पाता हूँ
अ आ इ ई की परिभाषा
अंग्रेजी में पाता हूँ
इंडिया जब से देश बना है
केवल अंग्रेजी भाषा है
अंग्रेजी के स्कूलों की ही
सबको ही अभिलाषा है
हिन्दी दिवस यहाँ मनता है
बजट सदा दिखलाना है
हिन्दी के ऊपर कुछ खर्चा
नित हमको बतलाना है
इनाम बाँट दें कुछ लोगों को
कुछ खा–पीकर निबटायें
'बजट' की हिन्दी पता नहीं, फिर
किसको क्या हम बतलायें
फीस बढ़ाकर अंग्रेजी स्कूल
यहाँ चल जाते हैं
उनका कोई बजट नहीं हम
थोड़ा भी दिखलाते हैं
हिन्दी भर का बजट दिखाना
आवश्यक हो जाता है
हिन्दुस्तान में हिन्दी हम से
लोप दिखाई देती है
हिन्दी हैं हम वतन है
हिन्दोस्ताँ हमारा नारा है
किसी कैसेट से कभी
ये बातें सुनायी देती हैं।

रिपोर्ताज

आखिर हिरण को कबतक मिलेगा न्याय

डॉ. आकांक्षा यादव
राजस्थान, मो–9413666599

हिरणों से जुड़ी तमाम बातें लोकोक्तियों से लेकर साहित्य और हमारी परंपराओं में भरे पड़े हैं। हिरण में बड़ा चुम्बकीय आकर्षण होता है। हिरनी सी आँखें सौंदर्य का एक खूबसूरत उपमान है। कहते हैं कि कस्तूरी मृग की नाभि में छुपा होता है और वह इसकी तलाश बाहर करता है। कई बार इसे आध्यात्मिक रूप में भी कहा जाता है कि ईश्वर हम सबके भीतर है और हम उसे बाहर ढूँढ़ते फिरते हैं। कभी जंगल का राजा शेर का पसंदीदा शिकार बनता है हिरण, तो कभी मृगछाल के रूप में किसी ऋषि–मुनि या महाराजा की शोभा बढ़ाता है। कभी इसके अंदर बसी कस्तूरी ही इसकी जिंदगी की लीला खत्म कर देती है, तो कभी इसकी सींग और अन्य अंगों से बननेवाली दवाइयाँ। वर्तमान में हिरण के शिकार का सबसे चर्चित मामला अभिनेता सलमान खान से जुड़ा है। सितंबर 1988 में अभिनेता सलमान खान ने राजस्थान के जोधपुर में अपनी फिल्म 'हम साथ–साथ हैं' की शूटिंग के दौरान काले हिरण और चिंकारा के शिकार किये थे। इस मामले में निचली अदालत ने उनपर आरोप तय करते हुए जेल की सजा भी सुनाई, पर उच्च न्यायालय ने 25 जुलाई, 2016 को उन्हें आरोपों से बरी कर दिया। इस मामले को लेकर पक्ष–विपक्ष में तमाम तर्क–वितर्क हैं, पर सवाल अभी भी वही है आखिर सदियों से हिरण ही क्यों प्रताड़ित हो रहा है।

हमारे यहाँ लोकगीतों में (सोहर) श्रीराम के जन्म पर उनकी छठी के अवसर पर कौशल्याजी और हिरणी के बीच वार्ता का एक मार्मिक प्रसंग आता है, जो कि बेहद भाव विभोर कर देनेवाला है। श्रीराम के जन्म और उनकी छठी की खबर जब वन में पहुँचती है, तो हिरणी उदास होकर एक वृक्ष के पास खड़ी हो जाती है। तभी वहाँ हिरण आता है और उससे उदासी का कारण पूछता है। हिरणी उसे बताती है कि राजमहल में श्रीराम का जन्म हुआ है और आज उनकी छठी है, अतः इस अवसर पर ढेरों पकवान बनेंगे, जिनमें हिरण का मांस भी होगा। मुझे डर है कि कहीं राजमहल के लोग तुम्हारा शिकार करके न ले जाएँ। हिरण बोलता है कि चलो, इसी बहाने हम प्रभु के काम आएँगे। पर हिरणी उदास ही रहती है और अंततः वही होता है, जिसका उसे डर होता है।

जब हिरण का मांस निकालकर राजमहल में उसे पकाने के लिए ले जाया रहा होता है, तो हिरणी वहाँ पहुँचती है और माता कौशल्या से गुहार लगाती है कि मेरे हिरण का मांस तो आपने ले लिया, पर उसकी खाल मुझे दे दीजिए, ताकि मैं उसे पेड़ पर टाँगकर उसके अपने पास होने का शुकुन पा सकूँ।' उसकी गुहार सुनकर माता कौशल्या ने कहा, 'जाओ यहाँ से हिरणी! इस खाल से तो मैं खंजड़ी बनवाऊँगी, जिससे मेरे राम खेलेंगे।' हिरणी कर ही क्या सकती थी, वह उदास होकर वहाँ से वन में चली जाती है। पर श्रीराम जब भी उस खंजड़ी को बजाते तो वह हिरणी अन्यमनस्क भाव से वहाँ खिंची चली आती और उसे सुनकर अपने हिरण से सामीप्य का भाव महसूस करती।

आज भी गाँवों में जब बच्चे का जन्म होता, तो यह सोहर गायी जाती है। पता नहीं, कभी किसी ने इस सोहर में छुपे दर्द को महसूस किया था या नहीं, पर हमारी परंपराओं में इसे शुभ अवसर पर गाना कई बार विचलित भी कर देता है। यह वास्तव में इस बात का प्रतीक है कि किस तरह से दूसरों के घर को उजाड़कर हम अपना घर बसा रहे हैं। कई बार यह प्रसंग सोचने पर मजबूर भी कर देता है कि क्या यह अनायास ही था कि रामायण का पूरा प्रसंग हिरणों पर ही टिका हुआ है।

वनवास के समय रावण ने सीता का हरण किया था। रावण एक राक्षस तथा लंका का राजा था। रामायण के अनुसार सीता और लक्ष्मण कुटिया में अकेले थे, तब एक हिरण की वाणी सुनकर सीता परेशान हो गयी। वह हिरण रावण का मामा मारीच था। उसने रावण के कहने पर सुनहरे हिरण का रूप बनाया। सीता उसे देखकर मोहित हो गयी और श्रीराम से उस हिरण का शिकार करने का अनुरोध किया। श्रीराम अपनी भार्या की इच्छा पूरी करने चल पड़े और अनुपस्थिति में लक्ष्मण से सीता की रक्षा करने को कहा। मारीच श्रीराम को बहुत दूर ले गया। मौका मिलते ही श्रीराम ने तीर चलाया और हिरण बने मारीच का वध किया। मरते–मरते मारीच ने जोर से 'हे सीता! हे लक्ष्मण! की आवाज लगायी। उस आवाज को सुन सीता चिंतित हो गई और उन्होंने लक्ष्मण को श्रीराम के पास जाने को कहा। लक्ष्मण जाना नहीं चाहते थे, पर अपनी मातृस्वरूपा भाभी की बात को इंकार न कर सके। लक्ष्मण ने जाने से पहले एक रेखा खींची, जो लक्ष्मणरेखा के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद का प्रसंग जगजाहिर है।

क्या यह संयोगमात्र है कि लोकगीतों में हिरण से जुड़ी घटना का जिक्र किया जाता है, जहाँ श्रीराम के जन्म पर मनायी जानेवाली खुशी में हिरणी को अपने हिरण का बिछोह सहना पड़ता है। संयोगवश वनवास के दौरान एक हिरण का कारण ही श्रीराम और सीता को बिछोह सहना पड़ा?

जब हम दो साल के लिए अंडमान–निकोबार द्वीपसमूह में थे, तो यह देखकर आश्चर्य होता था कि वहाँ के खतरनाक आदिवासी तक हिरणों का शिकार नहीं करते, बल्कि एक तरह से उन्हें पूज्य मानते हैं। पोर्टब्लेयर के नजदीक स्थित रॉस द्वीप पर तो आप इन हिरणों के साथ मुक्त विहार भी कर सकते हैं। पर दुर्भाग्यवश अंडमान के इन द्वीपों में आपको चोरी से हिरण का मांस बिकते हुए दिखेगा और ऐसा करनेवाले वहाँ के आदिवासी समुदाय के लोग नहीं हैं, बल्कि बाहर से आए हुए तथाकथित सभ्य लोग हैं।

पश्चिमी राजस्थान में बिश्नोई समुदाय के लोग प्रकृति और प्राणियों के प्रति अपनी सद्भावना और उनकी रक्षा के लिए मर मिटने के लिए प्रसिद्ध हैं। बिश्नोई समाज को ये नाम भगवान विष्णु से मिला। बिश्नोई समाज के लोग पर्यावरण की पूजा करते हैं। इस समाज के लोग ज्यादातर जंगल और थार के रेगिस्तान के पास रहते हैं। जिससे यहाँ के बच्चे जानवरों के बच्चों के साथ खेलते हुए बड़े होते हैं। ये लोग हिन्दू गुरु श्रीजम्भेश्वर भगवान को मानते हैं। वे बीकानेर से थे। इस समाज के लोग उनके बताए 29 नियमों का कड़ाई से पालन करते हैं। बिश्नोई समुदाय से जुड़ा एक प्रसंग जगप्रसिद्ध है, जब जोधपुर से सटे खेजड़ली गाँव में वर्ष 1736 में खेजड़ी की रक्षा के लिए बिश्नोई समाज के 363 लोगों ने अपनी जान दे दी थी। उस वक्त खेजड़ली व आसपास के गाँव पेड़ों की हरियाली से भरे थे। जब दरबार के लोग खेजड़ली में खेजड़ी पेड़ काटने पहुँचे और ग्रामीणों

को पता चला तो उन्होंने इसका विरोध किया। उन्होंने लोगों से आग्रह किया कि पेड़ नहीं काटें, लेकिन वे नहीं माने। तभी खेजड़ली की अमृतादेवी बिश्नोई ने गुरु जम्भेश्वर महाराज की सौगंध दिलाई और पेड़ से चिपक गयीं। इसपर बाकी लोग भी पेड़ों से चिपक गये। फिर संघर्ष में एक के बाद एक 363 लोग मारे गए। बिश्नोई समाज ने इन्हें शहीद का दर्जा दिया और इनकी याद में हर साल खेजड़ली में मेला भी लगता है। अमृतादेवी के नाम केन्द्र व कई राज्य सरकारें पुरस्कार देती हैं।

राजस्थान में करीब 500 सालों से बिश्नोई समाज के लोग जानवरों को अपने बच्चों की तरह पालते आए हैं। ये आज भी यहाँ पाये जानेवाले प्राणियों–हिरण, चिंकारा, काला हिरण इत्यादि की रक्षा के लिए अपनी जान देने तक से नहीं चूकते। बिश्नोई समाज की महिलाएँ न सिर्फ जानवरों को पालती हैं, बल्कि अपने बच्चे की तरह उनकी देखभाल करती हैं। महिलाओं के साथ–साथ इस समाज के पुरुष भी लावारिस और अनाथ हो चुके हिरण के बच्चों को अपने घरों में परिवार की तरह पालते हैं। बिश्नोई समुदाय की महिलाएँ खुद का हिरण के इन बच्चों की माँ कहती हैं और जरूरत पड़ने पर हिरणों को अपना दूध भी पिलाती हैं। करीब डेढ़ दशक पहले एक बिश्नोई युवक निहालचंद वन्यजीवों की रक्षा की कोशिश में शिकारियों से लड़ते हए अपनी जान पर खेल गया। बाद में इस घटना पर 'विलिंग टू सैक्रीफाइस' फिल्म भी बनाई गई। फिल्म को स्लोवाक गणराज्य में हुए फिल्म महोत्सव में पुरस्कृत भी किया गया।

हिरण का शायद सबसे बड़ा दोष यही है कि वह मासूम है, बेपरवाह है, अल्हड़ और अपनी ज़िंदगी में मस्त है। यही कारण है कि जंगली खूँखार जानवर से लेकर राजे–रजवाड़े तक इसका शिकार करने से बाज नहीं आए। अब न तो जंगलों में जगह बची और न ही राजे–रजवाड़े रहे, पर हिरण का शिकार अभी भी धड़ल्ले से हो रहा है। यहाँ तक कि इनकी रक्षा में खड़े बिश्नोई समुदाय के कई लोग भी मारे गये हैं। हिरण अभी भी अपनी डबडबाई आँखों और कातर निगाहों से यही पूछ रहा है कि कबतक मेरी खूबसूरती लोगों की आँखों में खटकती रहेगी। सलमान खान तो सिर्फ एक उदाहरण हैं, हिरण को तो रामायण–काल से लेकर आजतक का न्याय चाहिए।

कुमारी वन्दना
सम्राट चौक, पूर्णियाँ

आशिष

मेरी चुन्नी
ओढ़कर
दुल्हन बनी
मेरी
नन्हीं सी लाडो
फूले नहीं समाती है
अभी उसे पता नहीं
दुल्हन बनने के साथ ही
बदल जाती है
स्त्री की जिन्दगी
और
कितनी सारी चीजें
शौक, स्वभाव
नजर–नजारे
हॉबी,पसंद
अपना नाम तक भी
छूटती रह जाती है
अपनी सोच
उखड़ी–उखड़ी सी जड़ें
जो जमाए नहीं जमती
सब कुछ
जैसे उल्टा–पुल्टा
मगर, मेरी लाड़ो
तू जीना अपनी शर्तों पर
अपने पैरों पर खड़ी
सदा अपनी मर्जी से...।

उस आँगन की याद में

मन चाहता है
आज भी
अम्माँ के हाथों बनी
रोटियाँ खाना
बाबा की नकल उतारता
भाई के साथ
लड़ना/खेलना
देर तक
लम्बी ताने सोना।
बात–बेबात ठहाके लगाना
सबको प्यार करना
सबका प्यार पाना
पल–पल खुश रहना
परायेपन की मुहर से
आजाद हो
उसी आँगन में
मइया–बाबा की
प्यारी बिटिया बन
वहीं रह जाना।

मणि मोहन,
गंज बासौदा, विदिशा, म.प्र.
मो0–09425150346

दुःख

इस तरह भी
आते हैं दुःख जीवन में
कभी–कभी
जैसे दाल–चावल खाते हुए
आ जाता है मुँह में कंकड़
या
रोटी के किसी निवाले के साथ
आ जाये मुँह में बाल
या फिर गिर जाये
दाल–सब्जी में मच्छर
अब इतनी सी बात पर
क्या उठाकर फेंक दें
अन्न से भरी थाली
क्या इतनी से बात पर
देने लगें
ज़िन्दगी को गाली
रूपान्तरण....
हर पत्तों के बीच से
टूटकर बहुत ख़ामोशी के साथ
धरती पर गिरा है
एक पीला पत्ता
अभी–अभी एक दरख्त से
रहेगा कुछ दिन और
यह रंग धरती की गोद में
सुकून के साथ
और फिर मिल जाएगा
धरती के ही रंग में
कितनी ख़ामोशी के साथ
हो रहा है प्रकृति में
रंगों का यह रूपान्तरण

बाज़ार....

पसीने की गंध मिटाने के लिए
जिसे वे दुर्गन्ध कहते हैं
कितनी चीजें बिक रही हैं
इस बाजार में–
तरह–तरह के खुशबूदार साबुन
स्प्रे पाउडर और डिओडरेंट्स
मनुष्य के पसीने के पीछे
पड़ा हुआ है
पूरा बाज़ार
कुछ न कुछ तो
खरीदना ही होगा भाई साहब–
इस तरह नहीं घूम सकते
आप इस धरती पर
पसीने गन्धियाते हुए
रोशनी ....
इस रोशनी में
थोड़ा–सा हिस्सा उसका भी है
जिसने चाक पर गीली मिट्टी रखकर
आकार दिया है इस दीपक को
इस रोशनी में
थोड़ा–सा हिस्सा उसका भी है
जिसने उगाया है कपास
तुम्हारी बाती के लिए
थोड़ा–सा हिस्सा उसका भी
जिसके पसीने से बना है तेल
इस रोशनी में
थोड़ा–सा हिस्सा
उस अँधेरे का भी है
जो दिये के नीचे
पसरा है चुपचाप ।

समीक्षा :

मैं जहाँ हूँ : ग़ज़ल संग्रह

विज्ञानव्रत

दयानन्द जायसवाल
भागलपुर, मो. 9931240303

आदरणीय विज्ञानव्रत अपने हृदय की संवेदना को दूसरों के हृदय स्पर्शिता श्रेष्ठतम ग़ज़ल संग्रह 'मैं जहाँ हूँ' हम पाठकों को देकर हिन्दी ग़ज़ल वाङ्मय की कृतियाँ प्रदान कीं। इनकी ग़ज़लों की लावण्यता, अभिसार आदि का घनत्व, उद्दामता और मर्मस्पर्शिता इनके जीवन संबंधों का कोई एक गहरा सत्य परिलक्षित करती है।

एक समय जब बादशाहों, अमीरों, उमरावों आदि की प्रशंसा में लिखे जानेवाले कसीदे का पहले तो फ़ारसीकरण हुआ, तत्पश्चात् इरान के शायरों के शायरों में उसकी शृंगारिक भूमिका को क़सीदे से अलग कर के उसका नाम ग़ज़ल रखा। वस्तुतः भारतवर्ष को यह विधा इरान की ही देन है। हिन्दी के काव्य क्षेत्र में इसे स्थापित करने का श्रेय दुष्यन्त को प्राप्त हुआ।

कुछ समय तक यह विलासिता से प्रभावित प्रेम और वासना के रूप में प्रेमिका के इर्द–गिर्द ही घूमती रही। किन्तु श्रेष्ठ ग़ज़लकार विज्ञानव्रत की ग़ज़लें अपने मनोभाव, उद्‌गार, विचार, अनुभव, दुःख–दर्द तथा अपनी अनुभूतियाँ आदि व्यक्त करती हैं। यह अंतर्मन की गहराई से प्रस्फुटित है। इनकी ग़ज़लें अपनी धरती और परिवेश से जुड़ी, कथ्य एवं शिल्प में सामंजस्य तथा सरल–सरस भाषा में है।

आज ग़ज़ल लेखन के लिए रचनाकारों में होड़–सी लगी है। हिन्दी ग़ज़ल के नाम पर पाठकों और श्रोताओं के सामने बहुत–सा कूड़ा–कर्कट भी परोसा जा रहा है; क्योंकि ऐसे हिन्दी रचनाकार बड़ी संख्या में है, जो ग़ज़ल के छन्द से अपरिचित हैं। वहाँ तक पहुँच नहीं पाते, जहाँ ग़ज़ल की विकास यात्रा के महत्त्वपूर्ण पड़ाव हैं, जहाँ से ग़ज़ल की भावभूमि जमीनी सच्चाइयों से जुड़ते हुए जनसाधारण की पीड़ाओं को सहलाई जाती है।

विज्ञानव्रत का 'मैं जहाँ हूँ' ग़ज़ल–संग्रह की लोकप्रियता है कि बड़ी से बड़ी और गूढ़ से गूढ़ बात को दो पंक्तियों में कह डालना। छोटी बहर की इन ग़ज़लों में 'तुम हो तो ये घर लगता है' यहाँ ग़ज़ल प्रेमी का हृदय है और हृदय की धड़कन भी। टूटे दिलों का सहारा है, तो कल्पनाओं का विस्तृत आकाश भी। इस प्रकार मिट्टी की भीनी सुगन्ध में जीवन के हर पहलू को इनकी ग़ज़ल ने स्वयं में समेट लिया है

गाँवों में जो घर होता है
शहरों में नम्बर होता है
जिसका अपना सर होता है
वो ही क़द्दावर होता है।
राज अब ये क्या छुपाना
आप हैं मेरा फ़साना
याद जिनको हूँ नहीं अब
चाहता हूँ भूल जाना।
उसने मेरा नाम पुकारा
मैं हूँ ये अहसास कराया
मुझ पर उसका पूरा हक़ था
पर क्या उसने हक़ जतलाया।
रीत निभाने की खातिर ही
चार क़दम तो साथ चलो ना
बतियाते रहते हो खुद से
हमसे भी कुछ बात करो ना।

बेशक इन छोटी बहरोंवाली इनकी ग़ज़लें नाज़ नखरेवाली नगरवधू नहीं, जो सज–सँवर कर अपना सर्वस्व गिरवी रखकर धनोपार्जन करे, बल्कि गरिमा प्राप्त वह कूलवधू है, जो मर्यादाओं के साथ सजती भी है, सँवरती भी है, खिलखिलाती भी है और पूजा भी करती है।

कुछ नायाब ख़ज़ाने रख
लो मेरे अफ़साने रख
जिनका तू दीवाना हो
ऐसे कुछ दीवाने रख।

वो ज़माना अब कहाँ/वो ज़माना था कभी
आपका किरदार हूँ/तो बचाना था कभी

इतने दिनों में घर आये हो
घर जैसा कुछ रोज़ रहो ना
बादल हो तुम या खुशबू हो
बरसो खुलकर या बिखरो ना।

अपने विशाल जीवन के अनुभव को आत्मसात कर अपनी मानवीय दृष्टि को ग़ज़ल के एक–एक बहर में ऐसे गुम्फित किये हैं कि वह एक सम्पूर्ण फूलमाला के समान अभिव्यक्त है, जिसमें शिल्प का सौंदर्य और संवेदना हर एक को समाहित कर उत्कृष्ट ग़ज़ल कला की पहचान करायी है।

बस्ती–बस्ती भीड़ बढ़ी
लेकिन तन्हा शहर हुआ
कहना–सुनना भूला है
गूँगा–बहरा शहर हुआ।

प्यार भरा इज़हार है लड़की, इक ममता साकार है लड़की
एक नदी की धार है लड़की, किश्ती और पतवार है लड़की।

रचनात्मकता वह स्थिति है, जिसके तहत मनुष्य की ऐसी सकारात्मक सोच और क्षमता उजागर होती है, जो न सिर्फ व्यक्ति विशेष, बल्कि पूरे समाज के लिए हितकारी होती है। स्वामी विवेकानंद ने भी कहा है–''सृजनात्मक क्षमता हरेक के अंदर होती है, लेकिन उसको मूर्त रूप केवल पुरुषार्थी ही दे पाता है।'' जिसे विज्ञानव्रत ने इन ग़ज़लों के द्वार सिद्ध कर दिया है। सीधी– सादी मुख़ासर से ग़ज़लों को सुसज्जित कर एक खास मुकाम दिया है। यहाँ आदमी के जीवन–जगत का कोई कोना संवेदनशीलता से अछूता नहीं है।

मस्ती ठहरी सागर की/बस्ती ने तूफ़ान जिया
एक धनी आबादी में/लोगों ने वीरान जिया।
रेत की दीवार जैसे ज़िन्दगी
मौत के आसार जैसी ज़िन्दगी
आँधियों का जोर तो देखो ज़रा

हिल गई मीनार जैसी ज़िन्दगी।

ज़िन्दगी के प्रति ऐसा फ़लसफा लेकर विज्ञानव्रत साहब ने उसके तमाम रंग–रूप को अपनी शायरी में समेटा है। एक चीज और है, जो उनकी शायरी को उम्दा बनाती है, वह यह कि उन्होंने जो जिया, महसूस किया, वही लिखा। प्रस्तुत पुस्तक उनकी इन तमाम अदबी विशेषताओं से परिचित कराती है।

क्या लड़ूँगा अब उसी से
जो कि मेरा हो चुका हो
फिर भी दुनिया बने जब
आदमी इन्सान सा हो।
टूटकर भी सच कहा/आईना है आईना
ज़िन्दगी का फ़लसफा/आज तक उलझा हुआ।

विज्ञानव्रत एक ग़ज़लकार ही नहीं, एक अच्छे इंसान भी हैं। यही कारण है कि इनकी ग़ज़ल समसामयिक परिवेश तथा मानवीय जीवन के कटु सत्यों की अभिव्यक्ति का एक सशक्त एवं विशिष्ट माध्यम है।

साहित्य की तमाम विधाएँ अपने आप में सम्मानित हैं; क्योंकि ये सभी अपने–अपने तरीके से मानव की संवदेनशीलता की अभिव्यक्ति का माध्यम है। ग़ज़ल भी अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त विधा है, इसे उन्होंने प्रमाणित कर सामान्य जीवन की बेचैनी को उजागर की है। जीवन के हर पहलू चाहे, वह खुशी हो या गम, गिला–शिकवा हो या प्यार, दोस्ती हो या दुश्मनी जीवन के हर भाव को अपने शब्दों में बयाँ कर रही हैं ये ग़ज़लें।

आज मनुष्यों में अविश्वास और अजनबीपन की त्रासदी झेलना रिश्ते–नातों की नियति बनती जा रही है। सकारात्मक जीवन मूल्य नकारात्मक हो चुके हैं। आर्थिक उदारीकरण बढ़ते बाजारवाद ने मानवीय संवेदना और रिश्ते–नातों की ऊष्मा को क्षत–विक्षत कर दिया है। ऐसे में ये जीवन संघर्ष लगातार जारी रखने का तथा सोच की दिशा को बदलने का संदेश दिये हैं–

रास्ते भर मंजिलों के/आपको इम्कान दूँगा
जो मकाँ को घर बना दे/ बस यही सामान दूँगा।

कम–से–कम शब्दों में सादे ढंग से दृश्यों को रचते हुए अपनी अभिव्यक्ति को अद्‌भुत क्षमताओं से सजाई गई इनकी ग़ज़लों में कोमलता, चपलता एवं माधुर्य है। छोटे–छोटे बहरों को क़ाफ़िया से सजाया है। कहीं मिसरा तो कहीं रदीफ भी देखने को मिलता है। बहर तो खुद अरक़ानों की तरकीव से बनती है। अलंकार भी वक्रोक्ति के रूप में उभरा है।

इस प्रकार ग़ज़लकार तल्ख़ और साफगोई के साथ नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों को स्थापित करते हुए ग़ज़ल की दुनिया में अपनी पहचान बनाई है। इस विकास यात्रा में सम्पूर्ण मानवता की समृद्धि एवं संस्कृति की रक्षा की गई है।

डॉ. पुष्पलता
सिविल लाइन, मुजफ्फरनगर, यू.पी.

ज़िंदगी

भीगी–भीगी नजर कोई सहरा सा है
उड़ गयी आँख भी कौन चेहरा सा है
दिल ये पानी में है दर्द लहरा सा है
किसमें डूबी हूँ मैं भाव तेरा सा है
जल रहा चंद्रमा कुछ सुनहरा सा है
रात सोई नहीं नेह गहरा सा है
बढ़ रहे हैं कदम जिस्म ठहरा सा है
चल रही साँस पर कोई पहरा सा है
जिंदगी कुछ नहीं इक ककहरा सा है
वो मिला तो नहीं फिर भी मेरा सा है

ग़ज़ल

समंदर की कोई सुनाती लिखी तो
हकीकत की कोई कहानी लिखी तो
इन हाथों में खंजर उठा लेगी दुनिया
गुनाहों की कोई निशानी लिखी तो
किसी दर्द पर शादमानी लिखी तो
किसी धूल पर राजधानी लिखी तो
ये जिह्वा गले से निकलेगी दुनिया
जो गूँगों की बातें जुबानी लिखी तो
कहीं सत्य की बागवानी लिखी तो
जो ईमान की हक बयानी लिखी तो
तेरे खून से फिर नहा लेगी दुनिया
गुनाहों पे ताकत जबानी लिखी तो
जो साखी शब्दों की रवानी लिखी तो
जो वेदों की खुशबू सुहानी लिखी तो
ये हाथों में पत्थर उठा लेगी दुनिया
जो शीशे की सूरत पुरानी लिखी तो

अशोक मिज़ाज
मध्यप्रदेश, 9926346785

1. ग़ज़ल

दिखाने भर के लिए पट लगाए रहता है,
ये दिल जो लोहे की चौखट लगाए रहता है,
उसे सुकून से रहना कतई पसंद नहीं,
पड़ोसी नित नई खटपट लगाये रहता है।
मेरी गली से गुजरता है रोज इक पागल,
वफ़ा की सदा रट लगाए रहता है।
कोई ख़्याल अकेला कभी नहीं रहता,
हमेशा यादों का जमघट लगाए रहता है।
कभी तो लौट के आएगा अम्न का मोहन,
कि जिसकी आस ये पनघट लगाए रहता है।

2. ग़ज़ल

होठों पे फकीरी के दुआ भी नहीं आती
अब एक रुपये में हवा भी नहीं आती।
सर्दी में लगा करती है अब जून सी गर्मी,
सावन के महीने में घटा भी नहीं आती।
साँसों की वो सरगम भी सुनाई नहीं देती,
अब दिल की धड़कन की सदा भी नहीं आती।
गुलशन की उन्हें फिक्र भी क्या होगी कि जिनको
कलियाँ को मसलने में दया भी नहीं आती।
औरत भी चला करती है अब तान के सीना
मर्दों को मगर शर्म ज़रा भी नहीं आती।

परिचर्या

अर्ध सत्य का दारुण दंश

डॉ. उमेश प्रसाद सिंह
प्राचार्य
हिंगुतरगढ़, चन्दौली मो.–9450551160

सम्मानित सज्जनो!

आज की सभा में सबसे पहले मैं देश प्रेम में बलिदानी मूल्य के अमर प्रतिष्ठापक ''सरफरोशी की तमन्ना'' गान के सर्जक शहीद सम्राट भगत सिंह और उनके अभिन्न साथियों की पुण्य– स्मृति के प्रति अपना नमन निवेदित करता हूँ। इसके साथ ही मैं भगत सिंह की विरासत में थोड़ी–सी आस्था रखनेवाली इस देश की नौजवान–पीढ़ी को जो यहाँ उपस्थित है और जो उपस्थित नहीं है, उसके प्रति सम्मान समर्पित करता हूँ।

मित्रो! आज विचार के लिए आपने जो प्रश्न हमसे पूछा है–क्या हमारा देश आजाद है?इसके लिए आपको हार्दिक धन्यवाद देना चाहता हूँ। धन्यवाद इसलिए देना चाहता हूँ कि इस महान देश के मौजूदा समय में जड़ता से आक्रान्त चेतना के समक्ष एक जिन्दा सवाल खड़ा किया है। जिस समय हमारा देश तमाम मुर्दा सवालों के स्वार्थपूरक बनावटी और दिखावटी जवाबों की तलाश में व्यर्थ का खून–पसीना बहाने का नाटक खेल रहा है, उस दौर में एक जीवित सवाल उठाने के लिए मैं अपनी ओर से आप सबकी अभ्यर्थना करता हूँ।

सच कहूँ तो आपका यह सवाल हमें हमारे समय में, हमारी सामाजिक चेतना और हमारे सामाजिक बोध की हथेली पर डंक उठाये बिच्छू की तरह महसूस हो रहा है। जिसकी हथेली पर डंक उठाये बिच्छू बैठ जाए, उसका चैन समाप्त हो जाता है।

आज मैं अनुभव करता हूँ कि हमें बेचैन करनेवाले जिन्दा सवालों की बेहद जरूरत है। जब सवाल हमें बेचैन करेंगे, तो हम हाथ पर हाथ धरे बैठे नहीं रह सकेंगे, हम सिर छुपाकर उनकी अनदेखी नहीं कर सकेंगे, हम सर्वनाशी नींद के नशे में अपने जीवन की सच्चाई से विमुख नहीं हो सकेंगे। जब हम बेहद बेचैन होंगे, बौखलायेंगे, तिलमिलायेंगे तो जाहिर है कि हम तबीयत से उनके बारे में, जवाब हासिल करने जरूर ही उन्मुख होंगे। मेरा विश्वास है, जब हम पूरी तबीयत से किसी सवाल के सामने खड़े होंगे तो जरूर कुछ न कुछ होगा।

''कौन कहता है आसमां में सुराख नहीं होता।
एक पत्थर तो तबीयत से उछालो यारों।''–दुष्यन्त

इस समय हमारे देश की चेतना स्वार्थ और निराशा से इतनी संकुचित और आच्छादित हो चुकी है कि कुछ भी सकारात्मक और सार्थक घटित होने के प्रति हमारा विश्वास ही मर जाता है। इस विश्वास को जगाने के लिए हमें बेचैन करनेवाले सवालों की जरूरत है। साथियो! यह हमारा और हमारे देश का कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि आज हमारे लिए यह उत्पीड़क सवाल अस्तित्व के लिए प्रीतिकर हो रहे हैं।

उत्तर चाहे जो भी हो। मैं उत्तर को उतना महत्वपूर्ण नहीं समझता, जितना महत्व हमेशा सवाल का होता है। सवाल अगर सही हो, अर्थपूर्ण हो, जीवन में आंतरिक जरूरत से उपजा हो, चेतना की आंतरिक गहराई को मथकर प्रकट हुआ हो, तो हमारा विश्वास है, वह हमें सही दिशा में ले जाएगा। वह हमें सही प्रयत्न में नियोजित कर देगा और एक दिन निश्चय ही हमें सही जवाब को उपलब्ध करा देगा। जहाँ तक मैं समझता हूँ इस समय भारतीय जाति के सम्मुख एक सही प्रश्न, एक ईमानदार प्रश्न, एक जीवित प्रश्न की बेहद जरूरत है, जो उसे उन्मथित कर दे। व्यग्र कर दे। बेचैन कर दे। उसकी नींद और उसका चैन उससे छीन ले। मैं समझता हूँ, आपका प्रश्न वैसा ही प्रश्न है, इतिहास साक्षी है, अर्जुन के प्रश्न के कारण ही गीता जैसा जीवन के मर्म को उद्घाटित करनेवाला ज्ञान ग्रंथ और पार्वती के प्रश्न के कारण रामकथा का अमृतमय रामचरितमानस जैसा उच्चतर जीवनमूल्यों का प्रतिष्ठापक प्रेम का ग्रंथ हमें उपलब्ध हो सका है।

यह सच है कि आपका प्रश्न नया नहीं है। सभी जानते हैं कि यह प्रश्न भारत की आजादी के साथ ही पैदा हुआ प्रश्न है। उस समय समाज निर्माण में संरचनागत बुनियादी परिवर्तन के प्रति गहन आस्था रखनेवाले बुद्धिजीवियों ने यह सवाल उठाया था। उन्होंने इस देश की राजनीतिक आजादी की सिर्फ सत्ता हस्तान्तरण के रूप में देखा और उसे अपर्याप्त बताया था। उस समय व्यापक जनसमुदाय इससे उतना प्रभावित नहीं हुआ और यह प्रश्न एक राजनीतिक चिंतन के संगठन का विरोध बनकर रह गया। बाद में एक बार यह प्रश्न फिर खड़ा हुआ, आर्थिक विषमता और अमानवीय उत्पीड़न के विरुद्ध आक्रोश उन्मथित हस्तक्षेप के रूप में। इसने व्यवस्था में और विचार में विक्षोभ पैदा किया। एक सीमा में उसके परिणाम दिखाई पड़े। फिर भी सवाल अधिकांश राजनीतिक और बौद्धिक हलकों को लांघकर व्यापक जनजीवन में पैठ नहीं बना सका। मगर आज स्थितियाँ इतनी बदल गई हैं कि लगता है, अब यह सवाल राजनीतिक न होकर एक सामाजिक रूप में रूपान्तरित हो रहा है। एक राजनीतिक सवाल का सामाजिक सवाल बन जाना ही सवाल के जिन्दा और जीवित होने का प्रमाण होता है। इसी कारण मैं आज इस सवाल को जिन्दा सवाल कहना चाहता हूँ और कहते हुए प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। एक पीड़ादायक प्रसन्नता से गुजरते हुए दारुण नियति का जो साक्षात्कार होता है, उसका अनुभव कर रहा हूँ।

आज जब मैं इस प्रश्न के सम्मुख जवाबदेह की स्थिति में खड़ा हूँ, अपने को बड़ी असुविधाजनक स्थिति में पा रहा हूँ। नहीं, नहीं, सुविधाजनक ढंग से कभी भी किसी भी सवाल का जवाब हासिल कर पाना संभव ही नहीं हो सकता। मैं अपनी द्विधा ग्रस्त मानसिकता में देखता हूँ, मेरी नियति कितनी दयनीय है। हाँ, दिनकर जी का कहना है कि द्विधाग्रस्त मानव ही सबसे दयनीय आदमी होता है और उनका यह कहना मुझे बिल्कुल ठीक मालूम होता है। मेरी दुविधा अपने ही अंतःसंघर्ष के द्वंद्वसे उपजी दुविधा है, अपने ही विचार और अपनी ही संवेदना के, अपने ही हृदय और अपनी ही बुद्धि के, अपने ही विवेक और अपने ही अनुभव के अंतर्विरोध की दुविधा है। मैं क्या कहूँ, जो कहना चाहता हूँ, वह कह नहीं पा रहा हूँ। जो सच है, वह कहते हुए मन सहम जा रहा है। जो सच नहीं है, उसे कहने में ..... उत्थित हो जा रहा है।

बड़ा अजीब है, बड़ा विचित्र है। कुछ भी कहना सुविधा जनक नहीं है, सही नहीं है। मगर अपने सही होने की प्रबल आकांक्षा से भरा हुआ है। मेरा मन कहता है कि मैं कहूँ कि मेरा देश आजाद है। कौन भला ऐसा अभागा होगा, जो यह कहना नहीं चाहेगा। जिस मन में ऐसा कहने की साध न हो, उसे तो मनहूस कहना ही मुनासिब होगा। मगर क्या करूँ, स्थितियाँ इजाजत नहीं देतीं। स्थितियाँ आजादी का उपहास करती मुँह चिढ़ा रही हैं। मैं कहना चाहता हूँ कि हमारा देश आजाद है, हम आजाद हैं। मैं कहना चाहता हूँ कि आजाद होते हुए भी हमारा देश आजाद नहीं हैं, हम आजाद नहीं हैं। हम किसी के प्रत्यक्षतः गुलाम नहीं है, मगर कोई है, जो हमें अपना गुलाम समझता है। हम अपने को आजाद समझने के सपने में आँखें बंद किये हैं और कोई है, जो हमें अपने उपभोग के, उपयोग के अनुकूल बना लेने का इंतजाम रच रहा है। हम आजाद हैं, सिर्फ जिन्दा रहने के लिए, मगर अपने जीवन के सारे निर्णय किसी दूसरे के हाथ में है। हम आजाद हैं, जीने की कोशिश में अपराधी ठहरा दिये जाने के लिए और निरपराध रहकर मौत के मुँह में समा जाने के लिए। जरा देखिए न! हमारी नियति कितनी दारुण है। इससे आँख मिलाना कितना दुस्सह है।

मेरी पीड़ा, मेरे दुःख, मेरे अपमान और वंचनाएँ कहती हैं कि मैं कह दूँ

कि हमारा देश आजाद नहीं है, हम आजाद नहीं हैं। हमसे हमारी व्यवस्था के पाखंड, व्यवस्थापकों के छल कहते हैं कि मैं कह दूँ कि हमारा देश आजाद नहीं है, हम आजाद नहीं हैं। मगर कैसे कहूँ?जब भी कहना चाहता हूँ, मेरी जीभ पत्थर की हो जाती है। सिर शर्म से झुक जाता है। मैं मुँह ताकता रह जाता हूँ।

मुझे लग रहा है, मैं जो कह रहा हूँ, वह पूरा–पूरा सच नहीं है। मैं जो कह रहा हूँ–जो कहना चाहता हूँ, वह झूठ नहीं है। बड़ा अद्‌भुत है। बड़ा विस्मयजनक है। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह एक तरफ से सच है, दूसरी तरफ से झूठ है। एक सिरे से टटोलकर देखता हूँ तो लगता है सच है, दूसरे सिरे से परखता हूँ तो झूठ निकल जाता है। क्या करूँ?जी बड़ा हलकान है। मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी हमारे सामने है–वह आधा सच है, आधा झूठ है। आज हमारे जीवन का यथार्थ आधा सच और आधा झूठ का गजब सम्मिश्रण बन गया है। आज हमारे देश का सामाजिक यथार्थ दूध में मिल गये पानी की तरह सच और झूठ का विचित्र घोल बन गया है। हम पानी को दूध मानकर और दूध को पानी समझकर पी रहे हैं। पीने को विवश हैं। पी रहे हैं, पीते जा रहे हैं, पीते हुए बिदक रहे हैं, नाक–भौं सिकोड़ रहे हैं, मगर पी रहे हैं। अभी हम दूध और पानी को, सच और झूठ को, दोस्त और दुश्मन को ठीक–ठीक अलगा देने की तरकीब को उपलब्ध नहीं कर सके हैं। हम सभी उस तरकीब को खोज लेने के लिए तत्पर भी नहीं हो सके हैं। मैं निवेदन करना चाहता हूँ कि हमारी सामूहिक चेतना के सम्मुख दूध का दूध और पानी का पानी कर देने के लिए संकल्पबद्ध और तत्पर हो जाने का उचित समय उपस्थित हो गया है। आज हमारा चिंतन दलों के दलदल में दुर्दशाग्रस्त सत्ता पर अधिकार जमाने की गर्हित सोच से उबरकर सामाजिक और मानवीय अभ्युन्नति के प्रति उन्मुख होना चाहिए। इसके लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर अपने को बुद्धिजीवी कहने और समझनेवाले लोगों को और इस देश की महान् संघर्षशील परम्परा के उत्तराधिकारी माननेवाले लोगों को जन–जागरण के लिए कुरुक्षेत्र में अटल भाव से जूझ पड़ने की खातिर उतर पड़ना चाहिए।

मझे लगता है कि महाराणा प्रताप का अकंठ शौर्य, झांसी की रानी की आनाक्रान्त ललकार, टीपू की अदम्य युयुत्सा, दाराशिकोह की व्यापक सहृदयता,स्वामी विवेकानंद का उत्तुंग आत्मगौरव, भगत सिंह की बलिदानी देशभक्ति व महात्मा गाँधी की अहिंसक करुणा, अडिग राष्ट्रप्रेम इस महान् देश के अक्षुण्ण विरासत को सँभालने और सँवारने के लिए जो भी अपने इस देश का सुयोग्य नागरिक समझते हैं, उन्हें दोनों हाथ उठा–उठाकर पुकार रहा है–जागो, जागो; आओ, आओ इस देश की दुर्भाग्यपूर्ण नियति को अर्धसत्य के दारुण दंश से मुक्त करने के लिए अभियान के तुम्हीं नायक हो। इस नियति को बदलने का उत्तरदायित्व ही तुम्हारा दायित्व है।

यह सच है कि मौजूदा समय में हमारा वैश्विक परिदृश्य भयानक रूप से विषैला, मूल्यहीन और मनुष्यविरोधी हो गया है। यह वास्तविकता अब किसी से भी नहीं छिपी है कि दुनिया में अपना आर्थिक प्रभुत्व एकछत्र स्थापित करने की हवस में अमेरिका अपने कुछ मित्र राष्ट्रों के साथ दुनिया के तमाम देशों की निजी पहचान को रौंदकर उन्हें अपना गुलाम बनाने को आतुर है। केवल कुछ सुनहले और लुभावने शब्दों का भ्रमजाल फैलाकर बेहयाई और बेशर्मी की सारी हदें पाकर वह अमानुषिक अत्याचारों से परिपूर्ण आर्थिक विश्वयुद्ध का जैसा नंगा नाच कर रहा है। उसकी भर्त्सना और उसके कारगर प्रतिरोध के लिए हमें निर्भ्रान्त भाव से खड़ा होना होगा। मगर यह सच है कि हम अपनी आजादी की सारी दुर्दशा और मूल्यहीनता के लिए, अपने बदतर और बेईमान आचरण के लिए, अपनी बदहाली के लिए, तमाम विसंगतियों और विडम्बनापूर्ण स्थितियों के लिए सबसे अधिक खुद ही जिम्मेदार हैं।

मेरे विचार से हमें अकुंठ भाव से बिना किसी हीलहवाली के पतनशील मूल्यों में अपनी आस्था और अपने कदाचार की आत्मस्वीकृति सार्वजनिक रूप से करनी होगी। केवल सत्ता हासिल करने से एकमात्र राजनीतिक उद्योग के समानान्तर राष्ट्र निर्माण और समाज को समृद्ध बनाने के प्रति समर्पित राजनीतिक चेतना का विकल्प तैयार करना होगा। भ्रष्टाचार से विमुख और विलग रहने का हार्दिक संकल्प होना होगा। व्यक्ति हित के स्थान पर सामूहिक और सामुदायिक हित को वरीयता देने की आस्था उपजानी होगी। कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि आजादी के बाद हमने तमाम वस्तुओं को बनाने के लिए तो बहुत सजग और यत्नशील हुए, मगर जहाँ से आदमी बनता है, जहाँ आदमी का चरित्र गढ़ा जाता है, उस केन्द्र को बिल्कुल ही उपेक्षित छोड़ दिया। इधर हमारा कोई ध्यान ही नहीं है। आज हमारे विद्यालयों में जो कुछ भी सिखाया और पढ़ाया जा रहा है, उसका व्यवहार हमारे जीवन में भूलकर भी होता दिखाई नहीं देता। जो कभी पढ़ाया और सिखाया नहीं जा रहा है, उसी का व्यवहार हम समूचे जीवन में करने को अभिशप्त हैं। यह कितना दारुण सच है।

आज हमारे देश का सामान्य सामूहिक जीवन इतना वेदनामय हो गया है कि उसका निरुपण हृदय को विदीर्ण कर देनेवाला है। बड़ा लोमहर्षक दृश्य है और हम केवल दर्शन से अधिक कुछ भी नहीं हैं। आज हमारे देश में बाघ और बकरी को एक घाट पर पानी पीने की खुली आजादी है। आज हमारे देश में घोड़े और घास को अपनी अस्मिता बचाने का एक समान अवसर उपलब्ध है। हाँ, आज हमारा देश आजाद है। उनके लिए आजाद है, जिनके पेट में इस देश को खा जाने भर की भूख भरी है। उनके लिए आजाद है–जिनका हृदय उतना मलिन, जितना की शीर्ष वलय है। उनके लिए आजाद है, जो कानून को रखैल बना लेने की ताकत और हैसियत रखते हैं। वे सभी कहते हैं देश आजाद है। हम आजाद हैं। देश हमारा है। देश हमारा बाप की मौरुसी मिल्कियत है। वे कहते हैं। वे दिन–रात कहते हैं। हम सुनते हैं। हम सहते हैं। यही हमारी नियति है। हम बार–बार विश्वास करते हैं, बार–बार ठगे जाते हैं। हमने तो हर विश्वास की पूँछ उठाकर देखा है। सबके सब मादा निकले हैं। हम किससे पूछें, हमारी आज जो नियति है, वह हमारी क्यों है?

यह देश आज भी उनके लिए कतई आजाद नहीं है, जो देश को प्रेम करते हैं, जो देश को अपना नहीं, अपने को देश का समझते हैं, उनके लिए यह देश आजाद नहीं है। जिन्हें केवल अपनी आस्था पर, अपनी निष्ठा पर, अपनी मेहनत पर और अपने संघर्ष पर सजाने का, सँवारने का कोई भी सपना है, जो लोग इस देश को बनाने का, सजाने का, सँवारने का कोई भी सपना अपनी आँखों में पाले हैं, यह देश उनके लिए आजाद नहीं है।

आज भी हमारे देश में ऐसे बहुतायत लोग हैं, जिनके लिए पेट भरने के अलावा जिन्दगी का और कोई मतलब ही नहीं मालूम। ऐसे लोगों के लिए आजादी का कोई अर्थ नहीं है। क्या कहें, बड़ा अजीब है। अपने ही देश में अपना ही देश न जाने कितने टुकड़ों में बँटा है–कितने हिस्सों में बँटा है। सामर्थों के लिए अलग देश है, वहीं असमर्थों के लिए अलग देश है। दोस्त और दुश्मन की भाषा एक हो गई है। फर्क करना मुमकिन नहीं रह गया है। हम मित्र समझकर, अपना हितैषी समझकर गले लगाते हैं, मगर वह हर बार हमारी पीठ में छुरा घोंपकर पलायित हो जाता है। संवेदना अपरिचित हो गई है। सामूहिकता और पारस्परिकता से हमारी जान–पहचान मिट चुकी है। हर चीज संदिग्ध है। पता नहीं सच क्या है और झूठ क्या है। हमारे सामने जो कुछ भी है, आधा सच है। आधा झूठ है। हमारी नियति इस समय अर्धसत्य को जीने की दारुण नियति बन गयी है। हम अर्धसत्य का दारुण दंश झेलने के लिए अभिशप्त हैं।

क्या हम अपनी नियति को तोड़ने के लिए उसके सामने खड़े नहीं हो सकते?हम अगर खुद खड़े नहीं होंगे तो औरों से उम्मीद करना व्यर्थ होगा। हम खड़े क्यों नहीं हो सकते?आखिर कब खड़े होंगे?

इसी प्रश्न के साथ आज मैं आपसे विदा लेना चाहता हूँ। आपके प्रश्न के लिए मेरे पास कोई ठीक–ठीक उत्तर नहीं है। मैं भी प्रश्नों की भीड़ में घिरा हूँ। मुझे भी प्रश्न चारों ओर से घेरे हैं। मुझे प्रश्नों के उत्तर देने में उतनी रुचि नहीं है, जितनी उत्तर बन जाने में। फिलहाल प्रश्न के बदले एक प्रश्न ही–आखिर कब हम अपनी नियति को नकार कर उसे बदलने को उठ खड़े होंगे। हम परिवर्तन को पुकारने कब खड़े होंगे। हम अपने कवि से कब कहेंगे– कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,

जिससे उथल–पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये एक हिलोर उधर से आये।

परख

मनुवादी व्यवस्था को दोषपूर्ण किसने बनाया

गोपालचन्द्र घोष 'मंगलम'
मधुबनी, पूर्णियाँ, मो0–7258815325

व्यासस्मृति कहती है–

वर्द्धकी नापितो गोप आश पः कुंभकारकः,
वणिक्किंत कायस्थ मालाकार कुटुंबिनः,
वरटो मेद चांडालः वास्ते श्वपचकोलकाः,
एषां संभाषणात्स्नान दर्शनादर्कवीक्षणम् ।(पृ. 69)

यथा : बढ़ई, नाई, ग्वाला, कुम्हार, बनिया, किरात, कायस्थ, भंगी, कोल, चंडाल–ये सब अन्त्यज कहलाते हैं, इनसे बात करने पर स्नान और इनको देख लेने पर सूर्य के दर्शन से शुद्धि होती है।

इस प्रकार हिन्दुओं का शूद्रवर्ग, विशेषकर अति शूद्रवर्ग, हिन्दुओं (उच्चवर्गीय) द्वारा घृणा के कारण पहले से ही परेशान था और जब उसको मुस्लिम मजहब में समानता का दर्जा दिया गया तो धर्मान्तरण की लहर चल पड़ी। इसके फलस्वरूप अंग्रेजी राज्य में 9 करोड़ हिन्दू (अति पिछड़ा) मुसलमान हो गये। जून 1929 में बाबा अंबेदकरजी ने जिस धर्म के बारे में जलगाँव की सभा में आह्वान किया था, उसका असर वहाँ के लोगों पर तो कुछ विशेष नहीं पड़ा, पर आस–पास के अन्य क्षेत्रों में जून के प्रथम सप्ताह में ही 12 महारों ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया।

इस्लाम में दीक्षित करने के लिए मुसलमान या इस्लाम दोषी नहीं, स्वयं हिन्दू का धर्म और उसका पाखंडवाद दोषी है। एक मुसलमान ने अपने लोटे से किसी गाँव के कुँए से पानी पी लिया, भूल से हिन्दू भी उस कुँए से पानी पीते रहे और बाद में जब पता चला कि वे लोग जो उस कुँए से पानी पीता रहा है, तो उसका धर्म भ्रष्ट हो गया और पूरा गाँव मुसलमान हो गया।

राणा सांगा के बेटे काबुल घोड़े लाने चले गये, तो हिन्दू बनकर लौट न सके। यदि किसी तालाब में मुसलमान स्नान कर लिया और बाद में धोखे से हिन्दुओं ने भी उस तालाब में स्नान कर लिया तो वे सारे लोग मुसलमान हो गये। हिन्दू धर्म इस प्रकार पाखंड और चौका–चूल्हे तक का धर्म बनकर रह गया। पानी तो एक ऐसा जादू था, जो तुरंत हिन्दू से मुसलमान बना डालता था। जो स्वेच्छा से मुसलमान बने थे, वे ऐसे लोग थे जो हिन्दू धर्म की प्रताड़ना से दुःखी थे। वे बेचारे इन्सानियत और प्यार की ललक में हिन्दू धर्म को त्यागकर मुसलमान बन गये थे। भारत के मुसलमानों में आज 90 प्रतिशत ऐसे लोगों की ही संख्या है। हिन्दू ब्राह्मणवादी अत्याचार के शिकार हुए लोग ही इस्लाम धर्म को अपना लिया। इसलिए भारत की 1000 वर्षों की गुलाम भारत के शूद्रों के सामाजिक उत्थान में हितकर साबित हुई है।

मुस्लिम समाज के प्रत्येक सदस्य का यह परम कर्तव्य है कि वह समस्त विकास एवं न्याय की प्रक्रियाओं को अल्लाह के नाम से आगे बढ़ाए। विकास तथा न्याय का मुस्लिम दृष्टिकोण आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय एवं प्रगति के साथ–साथ चलते हैं। मुस्लिम अर्थव्यवस्था में सामाजिक न्याय अवसर और सहयोग की समानता प्रमुख है। इस गुण सिद्धांत को देखकर ही हिन्दू मुस्लिम होते रहे। हिन्दू की क्रूरता के चलते क्या नहीं हुआ?

13 अक्टूबर, 1950 ई0 में महाड़ आन्दोलन का मुकदमा महाड़ की अदालत में चल रहा था। मुकदमे की पैरवी के लिए बाबा साहब को महाड़ जाना पड़ता था। एक बार वे वहाँ वर्षा व बाढ़ के कारण महाड़ में फँस गए। अपनी जाति के लोगों के वहाँ निकट में नहीं होने के कारण उन्हें वहाँ के उच्चवर्गीय लोगों के यहाँ रहने का अवसर नहीं मिला। फलस्वरूप उन्हें तीन दिनों तक निरंतर पानी में भींगकर भूखे–प्यासे दिन काटना पड़ा और वर्षा थमी तो बड़ी कठिनाई से वहाँ से लौट सके। घर आए तो दो दिनों तक वे घर में बंद रहे तथा अछूते होने पर पश्चाताप व दुःख के आँसू बहाते रहे। महाड़ सत्याग्रहों और मंदिर प्रवेश की समस्या से भी वह पूरी तरह से अवगत थे।

अन्य सामाजिक सुविधाओं के पक्ष में सरकारी निर्णय होने के बावजूद अछूतों को सामाजिक सुविधाओं का उपलब्ध न होना, गाँधीजी का उनकी इच्छाओं के अनुरूप हुए–'पूना समझौते' के प्रति उदासीनता प्रकट करना, सवर्णा और कांग्रेस का गाँधीजी के इशारे पर चलना तथा अंग्रेज का सबल वर्ग (सवर्णों) को अनैतिक सहयोग प्रदान करना आदि कुछ ऐसी बातें थीं, जिन्होंने बाबा साहब को यह सोचने पर विवश कर दिया कि हिन्दू धर्म में उनके समाज के लिए न आत्म–सम्मान है और न ही समानता। आत्म–सम्मान और समानता का अभाव व्यक्ति में आत्मविश्वास की उत्पत्ति होने में अवरोध पैदा करता है।

अस्पृश्यों के लिए हिन्दू धर्म को कतई अनुपयुक्त मानते हुए 13 अक्टूबर, 1935 को बाबा साहब ने हिन्दू धर्म त्यागने का निर्णय लिया। इस अवसर पर–येवला (नासिक) में आयोजित सभा में बाबा साहेब की घोषणा हुई–'यह मेरे बस की बात नहीं कि मैं एक अस्पृश्य हिन्दू के रूप में पैदा हुआ, पर यह मेरे बस की बात है कि मैं नीच और अमानवीय स्थितियों में न रहूँ।' मैं आपको प्रतिज्ञापूर्वक आश्वस्त करता हूँ कि मैं एक हिन्दू की भाँति नहीं मरूँगा और उन्होंने दस हजार से अधिक अनुयायियों से कालाराम मंदिर के मामले को त्यागने की बात कही; क्योंकि वे मानते थे कि पिछले पाँच वर्षों में, मन्दिर प्रवेश के इन मामलों में उनकी शक्ति व सामर्थ्य का काफी अपव्यय हुआ था। इसलिए आज मनु महाराज तथा मनुस्मृति से विवाह, साक्षी, मानहानि, दुर्वचन, हमला, बदतमीजी, दीक्षा, यज्ञ, संन्यास आश्रम आदि मामलों में शूद्रों के साथ भेदभाव किया है। हिन्दू धर्म एक ऐसा खोटा सिक्का है, जो वास्तव में स्वतंत्रता,समता और बंधुता स्थापित नहीं करता, यह नीत्से के आदर्श मानव, ब्राह्मण को पूजनीय घोषित करता है। उनके अनुसार केवल ब्राह्मण ही जीवित रहने और शासन करने के लिए पैदा हुए थे, हुए हैं। अन्य सभी उनकी सेवा करने के लिए पैदा हुए हैं।

महात्मा ज्योतिराव फुले ने परशुराम को नोटिस दिया, उस समय कोई भोले–भाले अब्राह्मण समाज के लोगों ने उनको पागल व नासमझ समझा, लेकिन ज्योतिराव फुले ने इस तरह का सख्त इंजेक्शन लगाया होता तो पुणे में सदाशिव पैठ की सड़कों पर महारों को नहीं घूमना चाहिए, इस तरह के कानून बनाने में उन्होंने कोई कसर बाकी न रखी होती। हमलोग ज्योतिराव फुले के फौजी हैं, वैसी ही मानसिकता रखनी चाहिए। शाह छत्रपति द्वारा भेजे गये हरावल के सिपाही हैं। इसलिए हमारे अब्राह्मण समाज की हर तरह की गुलामी से मुक्त करना यही हमारा लक्ष्य है।

प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मधुलिमये यह कहने पर क्यों मजबूर हुए कि 'सवर्ण हिन्दुओं में शूद्रों और अन्त्यजों के प्रति जो क्रूरता दिखाई है और वह भी कुछ समय तक ही नहीं, बल्कि दो हजार सालों तक वैसी क्रूरता का परिचय मनुष्यों ने अपनी ही प्रजाति के प्रति शायद ही कभी दिया है।'

बेलछी, पिपरा, मुन्हेर कौन बनाता है?
कौन है, गरीब की बेटी फुलवा, किसकी हवस का शिकार बनती है?
कौन है, जो हजारों साल से भारतीय नारी को देवदासी बनाकर उसकी मर्यादा भंग करता है।
मंडल के विरुद्ध किसने तूफान खड़े किये?
आतंक से पीड़ित दलित समाज किसको नाजी और मनुवादी कहता है?
किनके अत्याचारों से ग्रस्त दलितों की आबादियों की आबादियाँ इस्लाम के दामने–रहमत में पुनाई लेती नजर आती हैं।

वर्ण व्यवस्था में अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों पर अधिक बल दिया गया है। महिलाओं के बारे में वर्ण–व्यवस्था में कोई विभाजन नहीं किया गया। वर्ण व्यवस्था का प्रारंभिक स्वरूप कुछ भी हो, कालान्तर में वह जन्म पर आधारित हो गई। ब्राह्मण को भूदेव कहा गया, तो शूद्र को चांडाल, पतित और नीच की संज्ञा दी गई। शूद्रों को मन भर मारने–पीटने का अधिकार भी मनुवादी लोगों को प्राप्त था। चूँकि वेदों को ईश्वरीय ग्रंथ घोषित कर दिया गया था, ताकि शूद्रादि वेद पढ़ने से वंचित रहे। इसलिए उनपर आधारित सामाजिक व्यवस्था को भी चुनौती नहीं दी जा सकती थी। वेद–विरोधियों को मृत्युदंड का प्रावधान अनिवार्य कर दिया। फलस्वरूप चातुर्वर्ण्य

व्यवस्था स्थिर व दृढ़ बनती चली गई।

पुरुष सूक्त में विराट पुरुष का मुख्य ब्राह्मण, बाहू क्षत्रिय, उरु वैश्य और पाँव शूद्र कहे गये। शतपथ ब्राह्मण में (211/4/13) में लिखा है–प्रजापति ने भू: से ब्राह्मण, भुव: से क्षत्रिय, स्व: से वैश्य को जन्माया। तैतिरीय ब्राह्मण में (3/12/3/9) में लिखा है कि यह सब कुछ ब्रह्मा द्वारा सृजा गया है। कहते हैं कि ऋक् से वैश्य वर्ण, यजु: से क्षत्रिय वर्ण और साम से ब्राह्मण पैदा हुए। कहीं ऐसा भी देखा गया है कि किसी ने अर्य या आर्य अनादि काल से दिश वा 'मनुष्य' कहे जाते थे। लेकिन बाद में कार्यानुरोध से वर्णभेद होकर दिमागी काम करनेवाले शिक्षकादि ब्राह्मण, शारीरिक बल से क्षत्रिय–रक्षा करनेवाले और शुद्ध सेवा या परिचर्या का काम करनेवाले शूद्र हुए। यास्क के निरुक्त से सिद्ध होता है कि उरु या मध्य स्थान पृथ्वी को कहते हैं, इसीलिए आर्य वेद में कहा गया है कि भूमि जोतने के लिए वैश्य की सृष्टि हुई है।

वर्ण व्यवस्था क्रमश: वैदिककाल में (1500–500) ई0 पूर्व विकसित हुई, जिसके बारे में साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध है। ऋग्वेद के पुरुष–सूक्त में चारो वर्णों के उद्‌भव का पौराणिक वर्णन मिलता है। जाति व्यवस्था का वर्णन आदर्श भारतीय इतिहास के वैदिक युग में क्रमश: विकसित हुआ और प्रारंभिक ब्राह्मण लेखकों ने उसे उस समय वर्तमान जाति व्यवस्था के स्थूल विवरण के रूप में स्वीकार कर लिया।

धुर्ये के अनुसार वर्ण धर्म अथवा विभिन्न वर्णों की आचार संहिता का उत्तर वैदिक काल में (600 ई.पूर्व से 300 ई0) बहुत अधिक विस्तार हुआ। इस काल में ब्राह्मण वर्ण की स्थिति बहुत दृढ़ हुई और ब्राह्मण की बढ़ती हुई श्रेष्ठता की तुलना में शूद्रों की अवनति और भी तीव्र गति से उभर आई। इन तीनों का किसी न किसी रूप में उल्लेख ईरानी आर्यों को धर्म–पुस्तक 'जेन्दावेस्ता' में हुआ है, जिससे प्रकट है कि वे वर्ण भारतीय आर्यों में ईरानी आर्यों के अलग होने के पहले ही बन चुके थे, पर शूद्रों को स्थान, समाज में आर्यों के भारत आने के बाद मिला।

वर्ण व्यवस्था में अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों पर अधिक बल दिया गया है। महिलाओं के बारे में वर्ण व्यवस्था ने कोई विभाजन नहीं किया। ब्राह्मण चारो वर्णों को महिलाओं से शादी कर सकता था। क्षत्रिय अपने तथा निम्न दो वर्णों की महिलाओं से वैश्य अपने तथा शूद्रों की महिलाओं से विवाह कर सकता था, लेकिन शूद्र को अपने ही वर्ण की महिला से विवाह करने का अधिकार था।

वेदों में वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के संबंध में एक विराट पुरुष को कल्पना की गई है। उसी विराट पुरुष के मुख्य से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति मानी गई है, जो इस तरह की उत्पत्ति बिल्कुल अवैज्ञानिक तो है ही, काल्पनिक ज्यादा है।

हिन्दू साहित्य में जगह–जगह वर्ण विभाग सचराचर सृष्टि में दिखाया गया है। देव योनियों में, वनस्पतियों में, खनिजों में भी वर्ण विभाग हैं। अत: वर्ण विभाग हिन्दू साहित्य के अनुसार प्रकृति से ही हुआ है। सूत्रों के सभी वर्णों के अपने–अपने कर्तव्य दिये हुए हैं। वर्णों की पवित्रता पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा था। उनके खान–पान, विवाह आदि के संबंध में बड़ी सतर्कता रखी जाने लगी। समान गोत्र (कुल) और माता की छ: पीढ़ियों तक संबंधी कुलों में विवाह करना वर्जित हो गया। पहले उनके राजकुलों में चचेरी बहन, मौसेरी और ममेरी बहनों से विवाह होता आया था, लेकिन कालान्तर बाद यह प्रथा भी प्रतिबंधित कर दिया गया।

वैदिक सामाजिक न्याय की अवधारणा इसी वर्ण विभाजन और कर्तव्य निर्धारण में निहित है। यदि प्रत्येक वर्ण के लिए अपने–अपने निर्धारित कर्तव्य करते चले तो समाज का संचालन और संगठन सुगम हो सकता है। यथा–

चातुर्वर्ण्य माया सृष्टं गुणकर्मविभागश:।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्वयकर्त्तारमव्ययम्।।

अर्थात् इन चार वर्णों–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का समूह गुण और कर्मों के विभाग पूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार इस सृष्टि रचनादि कर्म का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू वास्तव में अकर्ता ही जान। वर्ण व्यवस्था के संरक्षण एवं प्रामाणिकता पर काफी जोर दिया गया। इसके पीछे काफी वैज्ञानिकता पूर्ण दृष्टिकोण है, परन्तु पंडे–पुजारियों ने ऋषियों द्वारा रचित शास्त्रों को तो प्रदूषित किया ही, जिसके फलस्वरूप समाज में भी सामाजिक प्रदूषण विकसित होता गया।

वर्णाश्रम धर्म में अनुलोम क्रम में वैवाहिक संबंधों को न्यायसंगत माना गया और प्रतिलोम क्रम का पूर्णत: निषेध किया गया। संक्षेप में यह जानें कि प्रतिलोम विवाह के निषेध के लिए यह दी गई कि समस्त प्रतिलोम संतानें धर्महीन होती हैं। यह कितनी अवैज्ञानिक व तर्कहीन बातें हैं?वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर ही निर्धारित कर दी गई। वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोधी गाँधी बाबा भी नहीं थे। साधारणत: लोग ऋग्वेद के पुरुष सूक्त–दशवें मंडल, नब्बे सूक्त को ही इस वर्ण भेद का मूल माना है। वेद में कहा गया है कि उस प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पदों से शूद्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार देखा गया कि जाति को लेकर ही मनुष्य की सृष्टि हुई। मेरी समझ में आदर्श और व्यवहार की दूरी का ही परिणाम है कि वर्ण आदर्श है और जाति व्यवहार। वैदिक युग में हिंसा का बोलवाला था, जिसका संक्षेप में सामाजिक चित्रण किया जा रहा है–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् वाह: राजन्य कृत:।
उरू तदस्य यद् वैश्य: पदभ्यां शूद्रो अजायत्।।

–ऋग्वेद, 10.90.20

अर्थ–प्रजापति के मुख्य से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, पेट से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। वैदिक काल में ही शूद्रों की स्थिति पैरों के समीप पहुँच चुकी थी। आर्यों द्वारा अनार्य शूद्रों की हत्या, दमन के प्रचुर उदाहरण इन भेदों में भरे पड़े हैं–

इन्द्र ने बुद्धि से भय दिखाने हेतु तीस हजार दासों का विविध अस्त्र–शस्त्र से वध किये। ऋग्वेद में कहा गया है कि हे इन्द्राग्ने! तुमने प्रथम चेष्टा से ही असुरों (शूद्रों) के नब्बे नगरों को एक साथ भस्म कर डाला। काली दासी शूद्रों की स्त्रियों को मार डाला। शूद्रों को हथियार रखने से वंचित कर दिया। दभीत ऋषि को नगर से बाहर ले जाते हुए शूद्रों को रोककर उनके शस्त्रों को इन्द्र ने आग में जला डाला। शम्बर के दासों (शूद्रों) के सौ नगरों को ध्वस्त कर दिया जाता था। आर्य हिन्दु दास शूद्रों के घरों को जलाकर राख कर देते थे। ऐसी घटनाएँ हमेशा घटती ही रहती थीं। आर्यों द्वारा शूद्रों को लातों से मारा जाता था। पशुएँ भी छीन ली जाती थीं। शूद्रों को सबसे ज्यादा दण्ड दिया जाता था। मनु की दृष्टि में शूद्र और पशु समान था।

बहिष्कृत शूद्र वे हैं, जो आज के अछूत हैं। अछूत क्यों बनाया गया?बहिष्कृत क्यों बनाया गया?इसके पीछे भी कारण है। वे कारण हैं–आर्यों से जो द्रविड वर्ग सैनिक के रूप में लड़ा था, उसे आर्यों ने घृणावश बदले की भावना से समाज से दंडस्वरूप बहिष्कृत अर्थात् अछूत बना दिया। उनका अस्तित्व समाज में पृथक् है। इंतजार नईम साहब का कथन है कि ऐसे मुसलमानों को हिन्दू लोग नहीं मानते, फिर ऐसा क्यों?आखिर मुसलमान भी तो भारतभूमि में रहते हैं। यदि भारत में रहने से मुसलमान, सिख, ईसाई हिन्दू नहीं हैं, तो उनका तर्क गलत साबित हो जाता है कि हिन्दुस्तान में रहनेवाला ही व्यक्ति हिन्दू है।

हिन्दुओं का विभाजन वर्णों में है, वहीं अछूतों का कोई वर्ण नहीं है अर्थात् वे अवर्ण हैं। अछूत को धर्म से हिन्दू कह दिया जाता है, पर इतना कह देने मात्र से वे हिन्दू हो सकते हैं?नहीं। जिस प्रकार अमेरिका के नीग्रो और जर्मनी के आर्यों का धर्म एक है। दोनों ही धर्म के क्रिश्चियन हैं, पर समाज दोनों का अलग–अलग है।

हिन्दू धर्म तो स्वयं में ऐसा है, जो कभी एकता का पाठ पढ़ाता ही नहीं है। यह धर्म तो ऐसा धर्म है, जो अछूतों को स्वयं ही अलग करता है और सवर्णों को उनसे अलग कहता है। हिन्दू धर्म की वास्तविक भावना विभाजनकारी है। हिन्दुओं में अपना शासन स्थापित करते ही बौद्धों का कत्लेआम करा दिया। पहले सारे गैर हिन्दू बौद्ध थे। पुष्यमित्र शुंग के बाद बौद्ध पर जब अत्याचार हुए तो वे हिन्दुओं के दास बन गये। जिन्हे हिन्दुओं ने दास बनाया था, वे सब शूद्र वर्ण में सम्मिलित करवा दिए गए। बौद्धों से हिन्दू अति घृणा करते थे। इसलिए घृणा के फलस्वरूप उन्हें अछूत बना दिया।

हिन्दू राजाओं ने तो शक्ति से, तलवार के बल पर बौद्धों का विनाश कर दिया। लाखों–लाख बौद्ध सरेआम पंक्तिबद्ध खड़ा कर बकरों की भाँति कत्ल कर दिये गए। भय के मारे लाखों भारतीय बौद्ध श्रीलंका/वर्मा/चीन और दूसरे राष्ट्रों में भागकर चले गये। ब्राह्मणों ने जो शास्त्र लिखे, उनमे बौद्धों के प्रति घृणा भरा वर्णन किया और उन्हें अछूत बना दिया, ताकि उनका व्यवसाय, दुकानदारी निर्बाध गति से बहुकाल चलता रहे। ब्राह्मणों का एक श्लोक कई–कई ब्रह्मास्त्र का कार्य किया और आज भी परम्परा के नाम पर किया जा रहा है और हम हैं कि आँख मूँदें बधिर स्वरूप ग्रहण कर बैठे हैं। (संदर्भ–दलित साहित्य एवं अन्य ग्रंथ)

कसौटी

आजादी के सत्तर वर्ष : ये कहाँ आ गए...

डॉ. मंजरी पाण्डेय
वाराणसी मो. 9307488087

कभी–कभी लगता है वीर शहीद क्रान्तिकारी, अब्बल संत–महात्मा, भक्ति, शक्ति, त्याग, बलिदान सब कोरी कपोल कल्पित गाथाएँ हैं। भला देश के लिए कोई घर बार सब छोड़कर दर–दर क्यों छिपता–बचता होगा?न खाने–पीने की परवाह न कपड़े लत्ते, न सजने–सँवरने की चाह, बस वंदे मातरम् और देश की माटी के लिए जान देकर अपने को धन्य कैसे समझता होगा?हँसते–हँसते फाँसी के फंदे पर कोई कैसे झूल जाता होगा?वेश बदलकर अपनी पहचान मिटाकर देश की खातिर क्यों जीना कुबूल था?कैसे कोई घास की रोटी खाकर जीवन यापन करता होगा?तब भी उसके मन में देशभक्ति और माटी प्रेम ही चलता हो। कहाँ गए वो साथी संत जिनके निखरे बदन पर दाग थे, जख्म थे, कोड़ों के निशान थे। पर कोई नाम न चाह उल्टे नेपथ्य में बने रहकर सभी कार्य जो देशहित में हो, वो करना पसंद करते हैं।

आज कोई ऐसा दिन नहीं जब हत्या, बलात्कार, लूट खसौट, धोखा फरेब इत्यादि से शून्य समाचारपत्र अथवा टी.वी. चैनल्स के ब्रेकिंग न्यूज हो। यही नहीं दिन प्रतिदिन इसकी संख्या में बढ़ोत्तरी ही हुई जा रही है। क्यों...?क्या यही दिन देखने के लिए कितने अपनों को खोकर हमने आजादी पायी है?अगर नहीं तो विचारणीय है। आज का सबसे अहम् और ज्वलन्त प्रश्न है, जिसका उत्तर ढूँढे बिना, समाधान निकाले हम कितने भी शक्तिमान क्यों न हों जाएँ, प्रगतिशील हो जाएँ, विश्व में वर्चस्व स्थापित कर लें। परन्तु नैतिक मूल्यविहीन होकर सम्मान्य स्थान नहीं प्राप्त कर सकते। आज समाज का जो वर्चस्व है, उसके मूल में नैतिक मूल्यों की अवमानना ही प्रमुख कारण है। बच्चे अराजक हो रहे हैं, बड़े उच्छृंखल हो रहे हैं, वृद्ध अमर्यादित हो रहे हैं, कारण नैतिकता का अभाव। ये अनुभव कुछ संयमित जीवनभोगी लोगों को है। परन्तु उन्हें दकियानूस, पिछड़े लोगों की श्रेणी में रख दिया जाता है। जिसके परिणामस्वरूप आज भी भयावह स्थिति द्रष्टव्य है। सुबह घर से निकले लोग शाम को सही सलामत वापस लौट आए तो अपने को सौभाग्यशाली मानते हैं। हालाँकि वर्तमान सरकार एवं शिक्षण संस्थाओं ने नस तो पकड़ ली है कि नैतिकता की स्थापना किये बगैर हम विस्तृत दूरी नहीं पार कर सकते, न समाज की सोच बदल सकते हैं, उल्टे आधुनिकता की पीठ पर सवार रसातल में ही समाते चले जाएँगे।

अतः केन्द्र के अधीनस्थ विद्यालयों तथा अन्य राज्य एवं प्रान्तीय सरकारें भी नवागत समय की चुनौतियाँ को स्वीकार करते हुए प्राचीन एवं नैतिक मूल्यों की अवधारणा के प्रयास में संनद्ध हो गई हैं। नैतिक मूल्य संस्कारों से आते हैं। प्रथम संस्कार माँ के गर्भ से ही मिलता है। यह बात आज की नारी एवं बालिकाओं को अनिवार्य रूप से समझना है। वह समाज की, राष्ट्र की संचेतना का मूल है इस जिम्मेदारी का अहसास एवं निर्वहन करना होगा।

आज किसी सभा में नारियों के सम्मान में जब कोई वक्त वेदकालीन पंक्ति 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।' दोहराता है तो सच यह है कि वह चंद लोगों पर ही लागू होता है। बाकी लोग मुगालते में रहकर ही अपनी गरिमामय स्थिति को बरकरार रखने के प्रयास में लग जाते हैं। समय की माँग यही है, हम स्वयं को जानें, पहचानें, निखारें, दुलारें और समय के साथ कदम से कदम मिलाकर चलें।

आज नारी जागरण, सशक्तिकरण, मुक्ति के नाम पर सरकारी, गैर संस्कारी कार्यक्रमों की झड़ी लग गई है। कलाओं, परम्पराओं के संरक्षण, नारी जागरण, सशक्तिकरण के नाम पर आए दिन कार्यक्रम आयोजन हो रहे हैं। धन का अपव्यय हो रहा है, जिसमें अधिकांश महिलाएँ फिल्मी गानों की धुन पर थिरकती नजर आती हैं। समाचारपत्र उनकी तस्वीरें प्रमुखता से छापते हैं। परन्तु आँकलन करें सफल मनोरंजक कार्यक्रम का उद्देश्य कितना सफल हुआ?आए दिन ऐसे आयोजनों की भरमार है, फिर भी नारियों पर बढ़ रहा अत्याचार है। ऐसे कार्यक्रमों का उद्देश्य व कार्यक्रम का समापन आयोजन के साथ ही समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि महिलाओं की सुरक्षा स्वावलंबन स्वास्थ्य आदि पर इतने खर्च के बावजूद महिलाओं पर अत्याचार थमने का नाम ही नहीं ले रहे, उल्टे बढ़ते ही जा रहे हैं। मैं अपने कथ्य के माध्यम से ध्यान दिलाना चाहूँगी तथाकथित आधुनिकता को कि फिजूल दिखावे से ऊपर उठकर स्व को जानें पहचानें। अपनी ऊर्जा को समाज एवं राष्ट्र के उत्थान में लगाएँ। आज नारियों की जिस सुरक्षा, समानता, अधिकार के लिए कवायद हो रही है, तमाम महिलाएँ व संस्थाएँ, संगठन अपने मान सम्मान पर अन्य एवं सरकार के ध्यानाकर्षण के लिए धरना प्रदर्शन कर रहे हैं। इससे अच्छा होता सभी नारीशक्तियाँ आत्मचिंतन मनन कर लेतीं। अपने गौरवशाली अतीत के दर्पण में अपना स्वरूप देख लेतीं।

आज जिस हक और सुरक्षा की लड़ाई में हम लगे हैं वो वैदिककाल में हमें स्वतः प्राप्त थे। नारियों की शिक्षा व्यवस्था उन्नत थी कारण कि भावी पीढ़ी की वो धारिणी थीं। पीढ़ी दर पीढ़ी संस्कार आनुवंशिक रूप से चलता रहे, ये उद्देश्य था। वैदिककाल में भी अपाला, गार्गी, घोषा, लोपामुद्रा जैसी अनेक विदुषी नारियाँ हुई हैं, जिन्होंने वैदिक ऋचाएँ रची हैं। उपनिषद् में दो विदुषी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने ब्रह्मविषयक प्रश्न किये हैं। दूसरी विदुषी गार्गी वाचक्नवी ने याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ किया है। जब याज्ञवल्क्य चकरा गए थे। यही नहीं 64 कलाओं में निपुण होती थीं। उनकी संततियों में संस्कार संचरित होता रहा। धीरे–धीरे अधोगति प्रारंभ हुई। जिसके लिए अंग्रेज उत्तरदायी है या उससे पहले मुगल साम्राज्य। सबने भावी संतति की जन्मदातृ स्त्रियों से सबसे पहले शिक्षा का अधिकार छीना, फिर मान सम्मान कम होता गया जो मुगलकाल में चरम सीमा पर आ गया। जब मुगल आततायियों के डर से माता– पिता 8–10 वर्ष की उससे भी छोटी–छोटी कन्याओं का विवाह इज्जत बचाने हेतु करने लगे। पर्दा प्रथा का प्रचलन बढ़ा। वहीं से पतन प्रारंभ हुआ। परन्तु आज जब हम सँभलने के उपक्रम में लगे हैं। महिलाएँ स्वयं जागरूक होने में लगी हैं, ऐसे में अतीत की गौरवशाली स्थितियाँ, परम्पराओं का अध्ययन, वर्तमान परिस्थितियों के साथ उनके हृदयंगम की योजना बने, जिससे हम अपना खोया स्थान प्राप्त कर सकें। अपनी बच्चियों के परिधान व परिवेश के साथ सोच में उनके गरिमामय इतिहास का आधान करें, तब स्वतः समाज की मानसिकता बदल जाएगी।

हमें बताना होगा नयी पौध को कि जिस स्वतंत्रता और आजादी की वह चाह रखती और परंपराओं को स्वीकारने में पिछड़ेपन का बोध होता है, यह उसकी अज्ञानता है। आज से कहीं आगे और स्वतंत्र थीं पहले की लड़कियाँ महिलाएँ। ऋग्वेद के ऋचाओं में चर्चा है स्त्रियाँ अपना वर स्वयं चुनती थीं, जो गंधर्व विवाह के नाम से प्रचलित है। अथर्ववेद में विशद चर्चा है स्वयंवर प्रथा में समारोह आयोजित होते थे सूचना पाकर वर आते थे, उनका पूर्ण परिचय दिया जाता था। तब कन्या सरेआम अपने मनपसंद वर का चुनाव करती थी। उसीसे विवाह होता था। वेदकालीन संस्कृति में दहेज की प्रथा भी थी, परन्तु आज की तरह दिखावे से परे। माता–पिता द्वारा कपड़े लत्ते, गहनें, स्वर्ण, चाँदी, धन, धान्य, गाय, बैल, अन्य पशु इत्यादि अपनी क्षमतानुसार देकर जामाता को प्रसन्न संतुष्ट किया जाता था। एक और कारण यह भी रहा होगा कि अचानक पीहर से कट जाने का, परायेपन का अहसास न हो वरन् नये वातावरण में समाहित होने तक वह अपनेपन के अहसास से लबरेज रहे, सुखद स्मृतियाँ बनी रहें। पारंपरिक गीतों से भी कुछ ऐसा ही ज्ञात होता है–'बाबा जे दिहलें नव मन सोनवा अम्माँ जे लहरा पटोर। भइया जे दिहलें चंदन काठ घोड़वा भउजी मउरवा के गाँठ।' वेदों से यह भी ज्ञात होता है कि पर्दा प्रथा नहीं थी। विवाह संस्कार के पश्चात जब वधू अपनी ससुराल के नये घर के लिए प्रस्थान करती थी, तो उसके दर्शन के लिए शुभकामनाएँ व आशीर्वाद देने के लिए मानद लोगों, परिजनों को आमंत्रित किया जाता था। जैसे आज हम विवाह अथवा रिसेप्शन पर आमंत्रित करते हैं। यौवनावस्था में विवाह से पूर्व घर गृहस्थी के सभी कार्य से लेकर कृषि कार्य तमाम कलाओं, ललित कलाओं में वह घर में ही पढ़कर निपुण बन जाती थीं। यानी आत्मनिर्भर होती थी। ऋग्वेद में उल्लेख है–'सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्वायाऽथास्तं वि परेतन.।'

इसी तरह आत्मरक्षा, आत्मनिर्भरता इत्यादि की जो आज चर्चा है, वह हमारी सभ्यता और संस्कृति का अंग पहले से रहा है। फिर आज नये सिरे से नारी सशक्तिकरण, अधिकार के लिए लड़ाई, ऐसे विचारणीय मुद्दों पर आयोजित विचार चर्चा कार्यक्रम में कानफाड़ू फिल्मी गीतों की धुन पर नाच–गाने की बजाय अपनी समृद्ध परंपरा को स्वीकारने की पहल क्यों न हो, जिससे पुनः स्त्रियाँ अपनी प्रतिष्ठा व खोये सम्मान को पाकर स्वस्थ समाज व राष्ट्र की संरचना करें। इसी आशा के साथ, सधन्यवाद!

ललित निबंध

हिन्दी काव्य में प्रतिबिम्बित सामाजिक स्वरूप

मोनिका सिंह
शोध छात्रा, हिन्दी विभाग
तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

साहित्य में सामाजिक या जातीय जीवन की सशक्त अभिव्यक्ति होती है। हिन्दी साहित्य का आरंभिक काल अव्यवस्थित सामाजिक स्थिति का काल है। जन्म के अनुसार जाति निर्धारित होता था। उच्च वर्ण के लोग निम्न वर्ण वाले को हेय समझते थे। इस काल के सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' में आदर्शवीरता, स्वामिभक्ति, आत्माभिमान, कर्तव्यनिष्ठा, वीरागणाओं के सतीत्व आदि का उल्लेख है। भक्तिकाल में कबीर, सूर, तुलसी, जायसी आदि रससिद्ध कवियों की दिव्यवाणी निकलकर सामाजिक न्याय के समर्थन और रूढ़ियों के विरोध में देश के कोने–कोने में फैली। रीतिकालीन कवि दरबारी होते हुए भी समाज के आपसी फूट और कलह को लेकर क्षुब्ध थे।[1] भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग सामाजिक जागरण का काल था। इस युग के कवियों ने जाति, वर्गगत भेद–भाव, छुआछूत, बाल–विवाह, बेमेल–विवाह, मद्यपान आदि सामाजिक कुरीतियों के निवारण द्वारा समाज की उन्नति की और लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। गुप्तजी ने समाज की उपेक्षिताओं को गौरव दिया। पंत की दृष्टि भ्रमजीवियों, किसानों और मजदूरों की ओर गई। प्रसाद ने समाज की विषमता, दैन्य और पीड़ा का उल्लेख किया। निराला ने कबीर की तरह समाज की कुरीतियों पर प्रहार किया। महादेवी ने जगत के असंतोष को आध्यात्मिक आवरण देकर उपस्थित किया। बच्चन ने सामंती नैतिकता और सामाजिक भेद–भाव, उसके खोखलेपन को चुनौती दी। दिनकर ने सामाजिक अन्याय–अत्याचार, राजनीतिक दासता, विषमता, शोषण आदि के विरुद्ध खुलकर विद्रोह किया। जानकी बल्लभ शास्त्री ने शोषक समाज और शोषण–कौशल की कलात्मक अभिव्यक्ति की।

जाति या समाज विशेष के भावों, विचारों, अनुभूतियों और आदर्शों की रक्षा का उपयुक्त साधन साहित्य है। साहित्य में सामाजिक या जातीय जीवन की सशक्त अभिव्यक्ति होती है। जातीय जीवन की विविधकालीन भिन्न–भिन्न दशाओं का साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। डॉ. गोविन्दराम शर्मा का कथन है– साहित्य और जाति का परस्पर घनिष्ठ संबंध होने के कारण साहित्य में जाति और सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक प्रवृतियाँ सहज ही प्रतिफलित हो जाती हैं।

हिन्दी साहित्य का आरंभिक काल अव्यवस्थित सामाजिक स्थिति का काल है। जन्म अनुसार जाति निर्धारण होता था। उच्च वर्ण के लोग निम्न वर्ग के लोगों को हेय समझते थे। नारी सिर्फ भोग्या मानी जाती थी। राजागण आपस में और विदेशियों से लड़ते थे। युद्धों के समय जनता पीसी जाती थी। शिक्षा केवल उच्च वर्ग तक ही सीमित थी। राजनीतिक, व्याकरण, साहित्य– शास्त्र, नाटक, तंत्र–मंत्रादि की शिक्षा राजन्य वर्ग एवं उनके सभासदों तक सीमित होकर रह गई थी। सामंत वर्ग समृद्ध, विलासी और शिक्षित था, जनता निर्धन, अशिक्षित और पीड़ित थी। सिद्ध और नाथपंथी साधक कवि धर्म की रूढ़ मान्यताओं और छुआछूत की भावना का विरोध कर रहे थे। उनकी रचनाओं में जनता की बोली में धार्मिक पाखंड, जाति–प्रथा, मूर्तिपूजा आदि का तीखा खंडन मिलता है।[2] 'पृथ्वीराज रासो' इस काल की ही नहीं हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना गया है और इसके रचयिता चन्दवरदाई हिन्दी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं। इसमें जातीय जीवन की मनोरम अभिव्यक्ति हुई है। आदर्श वीरता, स्वामिभक्ति, कर्तव्यनिष्ठा, वीरांगनाओं का सतीत्व, त्याग और प्रेम आदि के साथ–साथ जीवन के संपूर्ण सामाजिक स्वरूप को इस काव्य में रेखांकित किया गया है।

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य के इतिहास का स्वर्णकाल कहा जाता है। इस काल में कबीर, सूर, तुलसी, जायसी आदि रससिद्ध कवियों की दिव्यवाणी निकलकर सामाजिक न्याय के समर्थन और रूढ़ियों के विरोध में देश के कोने–कोने में फैली। वस्तुतः नये धार्मिक आंदोलन तभी जन्म लेते हैं, जब समाज प्राचीन रूढ़ियों में जकड़ा जाकर सामाजिक न्याय और प्रगति की अवहेलना करने लगते हैं।[3] इन कवियों में सामाजिक स्थिति के प्रति विद्रोह का स्वर है। इस तरह विशुद्ध मानवता और सामाजिक न्याय की भावना के आधार पर एक नवीन संस्कृति का जन्म हुआ।

कबीर ने वैयक्तिक साधना में समाज की उपेक्षा ही नहीं की, बल्कि सामाजिक क्षेत्र में समदृष्टि भेदभाव का परित्याग, परोपकार आदि की आवश्यकता प्रतिपादित की–

निरबल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की सांस सों, लौह भसम हो जाय।।

तथा– साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय।।

तुलसी का संपूर्ण काव्य ही लोकमंगल की भावना ये युक्त है। तुलसी का काव्यादर्श ही है–'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुर सरि सम सब कह नित होई।।' तुलसी ने एउेसे वर्णाश्रम धर्म का समर्थन किया, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी आश्रमों का संतुलन है–उसने मत–मतान्तर, द्वेष, कलह, अंधविश्वास से समाज की रक्षा की। तुलसी के समाज की धर्मभूति 'सत्' के समर्थन और 'असत्' के निराकरण वाले सिद्धांत पर खड़ी है। डॉ. आनंद नारायण शर्मा ने कहा है–''जिस प्रकार मुगल बादशाह अकबर ने राजनीतिक दृष्टि से सारे भारत को एक बनाने का आयोजन किया था, उसी प्रकार सामाजिक संगठन का गुरुतर कार्य तुलसी द्वारा अनुष्ठित हुआ।''[4]

'दरद दिवानी' मीरा के स्वर में सामाजिक बंधनों में जकड़ी मध्य युगों की नारी का स्वर है, जो असीम दुःख झेलकर भी जिन्दगी का भरपूर जहर पीती है, लेकिन अपना निश्चय नहीं छोड़ती। जायसी भारत की सामाजिक संस्कृति की साकार प्रतिमा थे। उनका 'पद्मावत' साम्प्रदायिक सहिष्णुता और सद्भाव का जीता–जागता प्रमाण है। मुसलमान होकर भी रसखान ने साम्प्रदायिक भेद भाव से अपने पूरी तरह अलग रखा और हिन्दुओं के परमाराध्य श्रीकृष्ण का लीलागान पूरी तन्मयता से गाया।

रीतिकाल मुगल साम्राज्य के पराभव और विनाश का काल था। हिन्दू–मुसलमानों में पार्थक्य और बढ़ गई थी। विलासी शासक कला प्रेमी थे। जन साधारण अशिक्षित और निर्धन था। बाल–विवाह और बहू–विवाह की प्रथा प्रचलित थी। अमीर नैतिक आदर्शों से पतित हो रहे थे। अन्य भ्रान्तियों और अन्धरूढ़ियों का बोलवाला था। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी समाज की असंगतियों पर उंगली रखते थे।

भारतेन्दु युग सामाजिक जागरण का युग था। इस काल में समाज सुधार की भावना अधिक जोर पकड़ने लगी थी। अंग्रेजी राज्य की स्थापना और अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के साथ–साथ पश्चिमी सभ्यता की आँधी से सारा समाज आक्रांत होने लगा था। ऐसी दशा में विविध सामाजिक कुप्रथाओं को दूर करके समाज को सुसंगठित बनाने की भावना तत्कालीन नेताओं के हृदय में बल पकड़ने लगी थी। ब्रह्म समाज और आर्य समाज जैसी संस्थाएँ देश की सामाजिक चेतना को जागृत करने में महत्वपूर्ण काम कर रही थीं। इस सामाजिक जागरण के युग में तत्कालीन कवियों ने भी अपनी रचनाओं में मुखरित किया। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी कवियों ने स्त्री–शिक्षा, वर्ण भेद का त्याग, बाल–विवाह का उन्मूलन और विधवा–विवाह का प्रचलन जैसे समाज सुधार संबंधी नये विषयों को अपने काव्य प्रमुख स्थान दिया। डॉ. गोविन्द राम शर्मा का कथन है कि भारतेन्दु ने 'जाति वर्गगत भेद भाव, छुआछूत, बाल विवाह, बेमेल विवाह, बहु विवाह, मद्यपान आदि सामाजिक कुप्रथाओं के निवारण की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया।

भारतेन्दुकालीन कवियों की तरह द्विवेदी युग के कवियों ने भी सामाजिक कुरीतियों के निवारण द्वारा समाज की उन्नति की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों की केवल आलोचना ही नहीं की, बल्कि कुरीतियों से पीड़ित प्राणियों के प्रति सहानुभूति भी प्रदर्शित की है। स्त्री शिक्षा, बाल विवाह, विधवाओं की दयनीय दशा, दहेज प्रथा, अंध विश्वास आदि सामाजिक विषयों पर द्विवेदी युग के कवियों ने भी दृष्टिपात किया है। हरिऔध के 'प्रियप्रवास' के कृष्ण गाँधी युग के एक उदात्त कर्तव्यशील नायक है, जो सेवा और त्याग को जीवन का सर्वोपरि आदर्श मानते हैं। कवि उनके कृतित्व को परिभाषित करते हुए कहते हैं–

अपूर्व आदर्श दिखा नरत्व का।
प्रदान ही है पशु का मनु यता।।
सिखा उन्होंने चित्त की समुच्चता।
बना दिया सभ्य समग्र गोप को।

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में पहली बार उर्मिला, कैकयी, यशोधरा, विधृता, विसपुड़िया आदि उपेक्षिताओं को गौरव मिला और शरतचन्द की तरह भारतीय नारी को पारिवारिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान दिया। उनके चरित्र में कवि ने त्याग, साधना, प्रेम, सहिष्णुता, कर्तव्यनिष्ठा आदि गुणों की प्रतिष्ठा की और पारिवारिक जीवन का साधनापूत, उदात्त रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया। गुप्त जी ने नारी और पुरुष की विषम सामाजिक स्थितियों पर व्यंग्य प्रस्तुत करते हुए कहा–

''अबला के भय से भाग गये, वे उससे भी दुर्बल निकले,
नारी निकले तो असती है, नर यती कहाकर चल निकले।।''[5]

तथा–''एक नहीं दो–दो मात्राएँ, नर से भारी नारी,
अबला होकर जाया भी है, तू ही पाप पिटारी।।''[6]

गुप्तजी के राम धरती के स्वर्गीकरण के लिए आते हैं–

''मैं आया उनके हेतु जो कि तापित हैं,
जो विवश विफल बलहीन दीन शापित हैं,
भव में नर वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया,
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग को लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।''

उनके द्वापर के कृष्ण नटवर सागर और लीला बिहारी उतने नहीं, जितने अन्याय के प्रबल विरोधी और दलित–पीड़ितों के सच्चे मित्र और सहचर हैं। ने नयी क्रान्ति के संदेहवाहक बनकर अवतरित हुए हैं। गुप्त जी ने उदार वैष्णव भावना का स्वरूप प्रस्तुत किया है और राम, श्याम, बुद्ध में अंतर नहीं माना है। उन्होंने सिख गुरुओं और इस्लाम के महापुरुषों की गौरव गाथा गायी है और समाज का निष्पक्ष न्याय के लिए सब कुछ के लिए तैयार होने कहा है–

अधिकार खोकर बैठ रहना, यह महा दुष्कर्म है।
न्यायार्थ अपने बंधुओं को भी दंड देना धर्म है।

सामाजिक विषमता पर करारी चोट करते हुए उन्होंने कहा–

''श्वानों को मिलता दूध भात, भूखे बालक चिल्लाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक शिशु, जाड़े की रात बिताते हैं।''

हिन्दी छायावादी काव्यधारा के प्रतिनिधि और बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न कलाकार प्रसाद ने आधुनिक समाज की विषमता, दैन्य और पीड़ा का उल्लेख किया है–

''विषमता की पीड़ा से त्रस्त, हो रहा स्पन्दित विश्व महान।
यही सुख–दुख विकास का सत्य, यही भूमा का मधुमय दान।।''

कवि का कथन है–

''यहाँ सतत संघर्ष विपन्नता कोलाहल का यहाँ राज है।
अंधकार में दौड़ लग रही, मतवाला यह सब समाज है।।''

प्रसाद ने नारी जीवन की सार्थकता को भी रेखांकित किया है–

''नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग–पग तल में।
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।।''

अंततः कवि का आह्वान है कि–

''औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर दो, खुद को सुखी बनाओ।''[7]

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराल का सारा जीवन सामाजिक कुरीतियों, अंधविश्वासों और मानवता को कुंठित करनेवाली अबलाओं पर प्रहार करते बीता। उनके काव्य का बहुत बड़ा अंश उनके इसी संघर्ष का दस्तावेज है। उसकी लोक चेतना ने एक ओर 'भिक्षुक' के माध्यम से सामाजिक विषमता का यथार्थ चित्र उपस्थित किया, तो दूसरी ओर गुलाब के बहाने पूँजीपतियों को चुनौती देकर सर्वहारा की श्रेष्ठता का स्वर मुख किया है–

''अबे, सुन बे गुलाब
भूल मत गर पाई खुशबू रंगो आब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपटलिस्ट।
बहुतों को तूने बनाया है गुलाम,
माली कर रक्खा, खिलाया जाड़ा घाम।''[8]

इसमें सर्वहारा की हिमायत ही नहीं, उसके मिथ्या दर्प और अतिरिक्त गौरवगान पर तीव्र व्यंग्य की है।

सुमित्रानंदन पंत आधुनिक कविता के इतिहास में कोमल प्राण कवि हैं। उनके काव्य में वर्तमान के प्रति तीव्र असंतोष और विद्रोह है। उसका कारण तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था है। कवि ने कठोर जन–जीवन की ऊष्मा और प्रदाह को सहने का साहस दिखाया है। स्वभावतः उसकी दृष्टि किसानों, मजदूरों और दूसरे श्रमजीवियों की ओर जाती है, जो दिन भर की हाड़तोड़ मेहनत के बाद साँझ को थके–हारे शिथिल तन, बोझिल मन, जीवन रस से निचुड़े हुए वापस लौटते हैं। कवि ने वर्तमान समाज की विरूपताओं का विश्लेषण किया है। ग्रामवासिनी भारत माता का सजी और मार्मिक रेखांकन प्रस्तुत किया है–

''झाड़ फूस के विवर यही क्या जीवन शिल्पी के घर?
कीड़ों से रगते कौन ये?बुद्धि प्राण नारी नर?
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में,
गृह–गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में।।''

पन्त ने सामाजिक समता और आस्मिक उन्नयन दोनों के योग को मानवता के लिए आवश्यक माना। उनकी मान्यता है कि मनः संगठन के बिना लोक संगठन सदैव अपूर्ण रहेगा। महादेवी वर्मा ने लौकिक जगत के असंतोष को आध्यात्मिक आवरण देकर उपस्थित किया।

हरिवंश राय बच्चन ने पुरानी धार्मिक सामाजिक मान्यताओं, सामन्त नैतिकता, साम्प्रदायिक भेद भावों, उसके खोखलेपन के प्रति खुली चुनौती दी–

''कभी नहीं सुन पड़ता–इसमें हा, दूरी मेरी हाला,
कभी न कोई कहता उसने जूठा कर डाला प्याला,
सभी जाति के लोग यहाँ पर साथ बैठकर पीते हैं,
सौ सुधारकों का करती है काम अकेली मधुशाला।''[9]

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर ने सामाजिक न्याय, अत्याचार, राजनीतिक दासता, विषमता, आर्थिक शोषण के विरुद्ध खुलकर विद्रोह किया। जाति और कुल को महत्व देनेवाली सामाजिक रूढ़ियों के प्रति उनका विद्रोह इन शब्दों में व्यक्त हुआ–

''धँस जाये वह देश अतल में गुण की नहीं जहाँ पहचान,
जाति गोत्र के बल से ही आदर पाते हैं जहाँ सुजान।''

दिनकर सामाजिक विषमताओं के प्रति आवाज उठाते हैं। उनकी दृष्टि में जब तक सामाजिक विषमता दूर नहीं होगी, संसार में शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती–

''जब तक मनुज–मनुज का यह,
सुख भोग नहीं सम होगा,
शमित ने होगा कोलाहल,

संघर्ष नहीं कम होगा।।[10]

'अज्ञेय' कवि ने यह महसूस किया कि समाज के विरुद्ध अकेले खड़ा रह सकना संभव नहीं है।

कविवर जानकी बल्लभ शास्त्री अनाचारपूर्ण सामाजिक विषमता के प्रति जागरुक है। 'मेघगीत' में वे शोषक समाज और शोषण कौशल का स्पष्ट कलात्मक चित्र उपस्थित किया है–

''ऊपर ऊपर पी जाते हैं, जो पीनेवाले हैं,
कहते ऐसे ही जीते हैं, जो जीवने वाले हैं।''

आधुनिक काल के अन्य प्रतिनिधि कवियों ने भी सामाजिक विद्रूपताओं, जन–जीवन की समस्याओं, आर्थिक एकता पर आधारित नूतन सामाजिक व्यवस्था की प्रतिष्ठा के लिए प्राचीन रूढ़ियों, विचारधाराओं एवं कुप्रथाओं के प्रति विद्रोह की भावना व्यक्त किया है। रूद्र, नागार्जुन, विकट आदि कवियों ने आज के जीवन की अव्यवस्था की सशक्त अभिव्यक्ति की है। अज्ञेय, नागार्जुन, रूद्र, प्रभात, नन्दकिशोर नंदन, यामनंदन किशोर, सीताराम यादव आदि कवियों ने वर्तमान समाज की विसंगति पर करारा प्रहार किया है।

इस तरह आदिकाल से लेकर आधुनिक काल के कवियों के काव्य में तत्कालीन समाज का सच्चा प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है।

संदर्भ–

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 306
2. डॉ. गोविंद राम शर्मा, हिन्दी साहित्य और उसकी प्रमुख प्रवृतियाँ, पृ. 18
3. डॉ. राजनाथ शर्मा, साहित्यिक निबंध, पृ. 20
4. डॉ. आनंद ना. शर्मा, सुकवि समीक्षा, पृ. 27, 197
5. मैथिलीशरण गुप्त, विष्णुप्रिया, पृ. 32
6. मैथिलीशरण गुप्त, द्वापर, पृ. 20
7. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृ. रहस्य सर्ग
8. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, कुकुरमुत्ता
9. हरिवंश राय बच्चन, मधुशाला, पृ. 15
10. रामधारी सिंह दिनकर, रश्मिरथी, पृ. 18

कविता विकास
कोयलानगर, धनबाद
मो.–09431320288

मेघ उतरता है

पतझड़ सी नीरवता से जब
मन भर जाता है
मेघ उतरता है नैनों में
आसमान रीत जाता है
वितथ जीवन का तथ्य
में अकिंचन क्या जानूँ
दिन–रात की आपाधापी में
जीवन–संगीत जाता है
आजमाती है ये दुनिया
बिखरा के काँटे पथ में
ये तो मेरा जज़्बा है जो
बन मीत जाता है
जलाया है दहलीज पे
एक चिराग तेरे नाम का
तम की गलियों से अब कौन
भयभीत जाता है
हो आँखों के नीर तुम
दु:ख में और सुख में भी
उर–वीणा के तार छेड़
लिखा प्रीत जाता है
मिज़ाजे मौसम की मानिंद
बदलते है इंसाँ भी नित
संग दो पल की आरजू में
बरस बीत जाता है
शज़र हूँ तेरे चमन की पर
चहकते नहीं परिंदे कभी
मन की दरीचों से पिघल
नहीं शीत जाता है
दम्भ के छद्म घेरे में
विचरते प्रस्तर प्राण हैं
साँसों की होड़ लगा कौन
ताउम्र जीत जाता है
गहन कुहरा छाता है जब
दु:ख सत्रास घूटन का
तुम्हारी यादों के आफ़ताब से
बन अतीत जाता है

भावभीनी बात हो

दंभ अहंता से दूर
सहज यथार्थ हो अपनी परिभाषा
रीत न जाए मधुरस जीवन का
ऐसे आकर्षण का प्रतिपल
उठता विशब्द ज्वार हो
मान–अपमान से परे
एक घरौंदा के राजा–रानी हम
पथ प्रस्तर हो या शूलों भरी
प्यार–मनुहार का अविरत
कलकल–निर्मल प्रवाह हो
द्वंद्वप्रतिद्वंद्वको भूल
नैनों के दर्पण में हो प्रतिबिंबित
दो आत्माओं की प्रणय अभिलाषा
जल सा पारदर्शी अंतस से
प्रिय भावभीनी बात हो
दुराव–छिपाव को छोड़
सुन्दर सी जीवन बगिया में
विश्वास सलिला निर्बाध बहे
कुछ अर्पण, कुछ समर्पण का
वितत जीवन दर्शन हो

अशोक कुमार तिवारी
अधिवक्ता, सूर्यभानपुर,
बलिया (यू.पी.) मो.–09838112996

लानत है ऐसे नवयुग पर

कहते हो आधुनिक युग
नवयुग है
क्या देख नहीं रहे
कि हरा दिया है
कुटिलताओ के शकुनि ने
छल के पाशों से
और कैसे कर रहा है
भ्रष्टाचार का दु:शासन
मानवता की द्रौपदी का चीर हरण
अट्टहास कर रहा है
आतंकवाद का दुर्योधन
विवश है
ईमानदारी के पाण्डव
मौन है
बुद्धिजीवी द्रोण
शांत है
प्रशासनिक भीष्म
सज्ज है
विद्रूपताओं का कर्ण
दम्भ के तरकश में
पूर्वाग्रह के वाणों को भरकर
अन्याय की मदद को
विषमताओं के अन्धे
शासन के पुत्रमोह से ग्रसित
अन्तर्दूरदृष्टि बाधित
धृतराष्ट्र ने ही तो दी है
इन आततायियों को
अपनी अनुमति
जिससे हो रहा है
यह सब
कहाँ है
परिवर्तन के चक्रधारी कृष्ण
तब तो आ गये थे
अब तो अभी तक नहीं आये
और तुम कहते हो आधुनिक युग है
नवयुग है
लानत है, ऐसे नवयुग पर।

समीक्षा :

संवेदनाओं के क्रान्तिबीज

डॉ. गिरिजा शंकर मोदी

डॉ. जियालाल आर्य
किदवईपुरी, पटना

'संवेदनाओं के क्रान्तिबीज' डॉ. गिरिजाशंकर मोदी की कुछ माह पूर्व प्रकाश में आई विचारोत्तेजक काव्यकृति है, जिसमें बावन कविताएँ संगृहीत हैं। डॉ. मोदी परिस्थितियों से क्रान्तिबीज निकालकर उगाने के लिए जाने जाते हैं। बीजांकुरित ही नहीं करने, उसमें संवेदना और वेदना के पत्ते लगाकर फल लगाने की प्रेरणा भी देते हैं, काव्य के रूप में।

डॉ. अब्दुल कलाम ने 'भारत 2020' में विकसित राष्ट्र का बीजमंत्र दिया है। इसकी प्रेरणा उन्हें स्कूल की एक छात्रा से मिली थी, जब उन्होंने उससे प्रश्न किया था कि ''तुम क्या बनना चाहती हो?'' उत्तर दिया था कि ''मैं विकसित भारत में रहना चाहती हूँ।'' उसके उत्तर में विकसित राष्ट्र का सपना था। डॉ. कलाम के लिए प्रेरणा और मार्गदर्शन था। डॉ. मोदी के इस काव्य संग्रह में ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख है, जिनसे वे कविता लिखने की प्रेरणा ग्रहण किये और भावी समाज का स्वप्न परोस दिये हैं। डॉ. मोदी संवेदना के कवि हैं। इसीलिए वे इस संग्रह के पूर्व 'संवेदनाओं के हस्ताक्षर' और 'अनुभूतियों की दस्तकें' समाज को दे चुके हैं।

इस संकलन की प्रथम कविता है 'दस्तकें'। पूँजीवादी देशों की सोच, अरब की तानाशाही को इसमें विश्व के देशों की समस्या बना दिया है। न्यायपूर्ण संघर्ष के शंखनाद की गूँज से निकलता है स्वर–''जनता कहती है/ हमें न पढ़ना है अब/ उनका अर्थशास्त्र/ और न गुजरना है/ उनके व्याखानों से/ जो देता है मुट्ठी भर लोगों को/ चढ़ने को स्वर्ग की सीढ़ियाँ/ और शेष को धरती पर/ नर्क की दुशवारियाँ।''

मणिपुर की बेटी शर्मिला के अनवरत अनशन से प्रेरित कवि ने उसकी समस्या को देश की समस्या के रूप में रखा है– 'ईरोम चानू शर्मिला' कविता में। –'लोकतंत्र लटक रहा है यहाँ/ बेइंतहा जुल्म के भँवर में/और पता नहीं यहाँ बन्दूकें/कब कहाँ किस पर गरजेगी।'–'किसान पाण्डुरंग' प्रकृति की मार से नहीं एक प्रधानमंत्री की घोषित यात्रा के लिए सामंती नौकरशाहों के मिजाज से आहत आत्महत्या करने को विवश हो जाता है। उसकी नष्ट की गई फसल का मुआवजा भी नहीं दिया जाता है। प्रधान मंत्री आये भी नहीं। ऐसी घटनाएँ प्रायः होती रहती है। कवि के शब्द मुखर होते हैं–''इस देश के लोकतंत्र में/सामंती खून का उन्माद/सुनामसा/आम आदमी की जान/लेता रहेगा कबतक''– इसका उत्तर शायद लोकतंत्र के पास नहीं है।–'भजनपुरा के लोग', 'भूख और आत्महत्या' और 'डब्बा भूमिया' कविताओं में स्पष्ट संदेश है कि आत्महत्या का कारण 'गृहकलह' कहे प्रशासन, परन्तु मूल कारण तो भूखमरी ही है। ऐसी समस्याओं को उठानेवाले विनायक सेन हों या नक्सली, सबको शासकवर्ग देशद्रोही, बगावती कहकर मुहँ बंद करने की कोशिश करता रहा है। कवि ने स्पष्ट कहा है–'लूट से कराहते इस लोकतंत्र को अब/ एक ही विनायक सेन नहीं/ यहाँ विनायक सेनों की काफिला है/ –क्या तुम विनायक सेनों पर/ देशद्रोह की बातें कर पाओगे/ जबकि विनायक सेन नहीं/ खुद तुम देशाब्दियों से देशद्रोह के संगीन अपराधों में/ लिप्त रहे हो।''–लोकतंत्र क्या इसका उत्तर ढूँढ़ पाएगा?

नारी सशक्तिकरण का नारा पुराना हो गया है। नारियाँ जीवन के हर क्षेत्र में अपनी पहचान बनाने में सफल भी हुई है, पर गिनती की। इसके साथ नारी की अस्मिता की सुरक्षा और सम्मान की गंभीर समस्या आ खड़ी हुई है। इस समस्या को कविने पुरजोर ढंग से 'देश की दामिनी', 'दामिनी के बाद', 'फिर एक किशोरी', 'आदिम लोग', 'पड़रियाँ की बहनें' आदि कविताओं को उजागर किया है और हर संवेदनशील हृदयी को झकझोर दिया है, पर नतीजा नगण्य। लड़कियों के अपहरण, गैंगरेप की घटनाएँ बढ़ती ही गई हैं; क्योंकि सामाजिक बंधन परिवार के ढीले पड़े हैं। धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं का ह्रास होता जा रहा है। कवि डॉ. मोदी के कुछ शब्दों में समस्या पर विचार किया गया है। इनकी काव्य पंक्तियाँ हैं–'और जारी है/जेल में आदिवासी बाला के/ गुप्तांग में पत्थर भरा जाना/ व थाने में बलात्कार।(पृ. 35)

–''दामिनी के दर्द की दिल्ली/ अपनी रफतार में/ थमती नजर नहीं आती।'' या ''क्षतविक्षत हुए हैं/ गुड़िया के यौनांग/ और फिर बलात्कार के बाद/ उसमें घुसेड़ दिये गये हैं/ मोमबत्तियाँ और तेल के बोतल।''(पृ. 40)

समाज के सजग प्रहरी के रूप में कवि ने सामाजिक कुरीतियों पर मंथन किया है। कविता के माध्यम से उनका प्रतिकार किया है। समाज को जगाया है। –सफदर हाशमी, नरबलि, कंचन कालवेलिया, लिऊ जियावाओ, लसंधा विक्रमतुंगा आदि कविताएँ इस श्रेणी में हैं। 'सफदर हाशमी' कविता की पंक्तियाँ हैं–जनतंत्र के जन की/ इस हत्या को अदालत ने/ चौदह वर्षों में सुना/ और जब सुनी जा रही थी/ जनतंत्र के जन की हत्या/ तो परिसर में शुमार था/ मात्र हत्यारे के समर्थकों का/ –सफदर के लिए/ वहाँ कोई नहीं था।– जन की हत्या के खिलाफ/ वहाँ कोई/ इन्कलाब न था।'' (पृ. 58) इस कविता को पढ़कर मेरी प्रतिक्रिया हुई, मर कर भी वह अमर है/ लोगों के दिलो में/ गरीबों की साँसों में/ जिनके लिए वह जीया/ मरा नहीं।''रूप कुँवर की चीत्कार 'बचा लो पापा' अनसुनी रह गई।

21वीं सदी में हम स्वयं को सभ्य और संस्कृति का वाहक मानते हैं। फिर भी नरबलि जैसे अपराध पनप रहे हैं। चीनी सरकार की जेल में बंद जियावाओं दिसम्बर 2010 में शान्ति का नोबेल पुरस्कार लेने नहीं जा सका। फिर भी उसने हुंकार भरी–''आदमी के लिए मेरी आवाज/ मूल्यों के लिए मेरा जेहाद/ क्या कभी बन्द होगा/ मैं रक्तबीज हूँ/ पैदा होता रहूँगा/ घास हूँ उगता रहूँगा।''(पृ0 67)

तुम मुझे न्याय दोगे?मैं नंगी हो रही हूँ; दलितों के नाम और महादलित बस्तियाँ जैसी अनेक कविताएँ इस संग्रह में निहित हैं, जिन्हें पढ़कर संगदिल भी पिघल जाएगा, पर क्या शासन की संवेदनशीलता कभी जगेगी। ऐसे प्रश्नों से भरा है यह काव्य संग्रह। एक प्रश्न देखिये–''हमें नंगा कर यह समाज/ टेबुल, कुर्सी और मेजें ढक रहा है/ मैं क्या करूँ?''(पृ. 93) ऐसे प्रश्नों को सोचकर 'आदिवासी गाँव' कहता है–''अब हमें लगता है/ पैदा होते नये संदर्भ के खिलाफ/ कुछ सोचना होगा।''(पृ. 97) क्या ऐसी ही सोच का परिणाम है नक्सल समस्या?

आम आदमी ने तो लोकतंत्र में विश्वास किया। पर विश्वास का परिणाम विपरीत मिला। ऐसा ही संदेश है इस संग्रह की अंतिम कविता 'ठगे गये विश्वासों में', जिसमें कवि कहता है–''और हुआ ऐसा कि/ फिर फिर ठगे गये विश्वासों में/ विश्वासों की फसल/ पके बिन/ कट जाती गलियारे में।''(पृ. 127)

कवि अपनी प्रौढ़ भाषा के लिए जाने जाते हैं। इस काव्य संग्रह की भाषा सरल, सुगम्य और ग्राह्य है। कविता की शैली एक सी है अतुकान्त, परन्तु भावपक्ष सुदृढ़ और अंतर्गामी है। मेरा मानना है कि इन भावों को अगर पिंगलशास्त्र के बंधनों से बाँधा गया होता तो दिल दिमाग और मन पर असर करता। फिर भी वह काव्य संग्रह प्रेरणादायक, विचारोत्तेजक और समाज को हिलाने वाला है।

रचना तिवारी
राबर्ट्सगंज, सोनभद्र (यू.पी.)
मो.–9451618235

नाव हो मांझी

लहर के संग में हिचकोले
खाती नाव हो माझी
वो अन्जाना किनारा हो
पराया गाँव हो मांझी
किनारा एक छूटेगा तो
दूजा मिल भी जाएगा
बुझाया एक तूफां ने
तो लाखों जल भी जाएगा
न बंदिश हो न पहरा हो
जहाँ हर पल सुनहरा हो
न कोई पेंच दुनिया का
न कोई दाँव हो माझी
तेरी पतवार डोलेगी
हमारा गीत बोलेगा
उतरकर आसमां पानी में
खुद को जब भिंगो लेगा
वो जलसा चाँद तारों का
शरारत का इशारों का
बहकते हाथ हों अपने
थिरकते पाँव हो माँझी
हवा छेड़ेगी जुल्फों को
कभी खेलेगी आँचल से
परिंदे ले के शहनाई
उतर आयेंगे बादल से
ख्यालों की सजावट हो
सपनों की बुनावट हो।
तुम्हारी बाँह के झूले
बदन की छाँव हो मांझी।

न सागर जान पाता है

न सागर जान पाता है
नदी ना जान पाती है
क्यूँ सदियों से जगे हैं ये
न इनको नींद आती है
लहर ने किसको छोड़ा है
किसे पहचान पायी है
वो मंदिर हो या मयखाना
मिटा के सबको आयी है
न मांझी जान पाता है
न कश्ती जान पाती है
किनारा टूटता खुद या
किनारा वो ढहाती है
जिन्हें झुकना नहीं आता
वो डाली टूट जाती है
अलग अपनों से होने का
हमेशा दुख मनाती है
न माली जान पाता है
न बगिया जान पाती है
हवा चुपके से आकर यूँ
तबाही क्यूँ मचाती है
ये जीवन खुरदुरा सा है
कोई सपना नहीं उगता
शिकारी से डरा पंछी
यहाँ दाना नहीं चुगता
न भौंरा जान पाता है
न तितली जान पाती है
कि काँटों के बिछौने पर
कली क्यूँ खिलखिलाती है
झरे तो हो गये पतझर
उगे रितुराज फिर बनकर
मरे शाहे जहाँ से हम
जिये मुमताज से होकर
न साँसें जान पाती हैं
न धड़कन जान पाती है
कभी जब प्रीत चुपके से
किसी का मन चुराती है।

गिरिजा शंकर मोदी

सर्जक

मैं मरूँगा नहीं
मैं जिन्दा रहूँगा
अपने सृजन में
जब तक आदमी जीता रहेगा
इस धरती पर संवेदनाओं में
मेरा दर्द, मेरा संघर्ष
मेरे सपने और मेरा मूल्य
झाँकता रहेगा उनकी आँखों में
फुसफुसाता रहेगा उनके कानों में
मेरा इन्क्लाब
उनका इन्क्लाब होता रहेगा
पीढ़ियाँ सोचेंगी
कोई है हमारे बीच
आकाश और धरती के बीच
आकाश और धरती के साथ
ऊर्जा के अक्षय स्रोत का सूर्य बना...
कोई है गंगोतरी सा
पहाड़ी पावस जलधार में
चाँदनी की धवल आभा का मन देने,
कोई है हमारे बीच चन्दन वन सा
मलयानल के झोंकों में
जीवन की सुगंध को मयूरीरूप देने,
कोई है हमारी बीच
रिश्तों के पलाश पल्लवों सा
भावनाओं के धागों से बुने
मखमली सतह पर
फिसलने को सुख देने

अभय कुमार भारती
लोदीपुर, भागलपुर

वीर-वन्दना

हिन्द भूमि की बलिवेदी पर
जिसने दे दी अपनी जान
वैसे वीर शहीदों को तो
मेरा शत शत बार प्रणाम
भारत की करुण पुकार पर
छोड़ दिया जिसने घर बार
तज महल सेज सुखों को
जलने को आतुर अंगार
थाम तिरंगा लिखा जिसने
लहू से क्रान्ति का पैगाम
वैसे वीर शहीदों को तो
मेरा शत शत बार प्रणाम
बाँध सका भी मोह न माया
डिगा सका न भय वैताल
कफन बाँध कूद पड़े समर
टूट पड़े दुश्मन पे काल
गोली खा सीने पे जिसने
छलनी कर दिया रिपु चाम
वैसे वीर शहीदों को तो
मेरा शत शत बार प्रणाम
टूट गये पर झुके नहीं जो
अनल शूल पर रुके नहीं जो
भारत माँ की लाज बचाने
दामन के सब दाग मिटाने
धूल चटा जानी दुश्मन को
लिये फांसी फंदे को थाम
वैसे वीर शहीदों को तो
मेरा शत शत बार प्रणाम।

लोकवाणी

1. 'सुसंभाव्य' का अंक प्राप्त हुआ। इसके लिए हार्दिक धन्यवाद। हिन्दी जगत में नि:शुल्क पत्रिका का संपादन आपके हिन्दी सेवा और समर्पण का प्रतीक है। हिन्दी जगत में सुसंभाव्य अपना स्थान बना रही है। पत्रिका हाथ में आते ही पढ़ने के लिए प्रेरित करती है। हिन्दी की सभी विधाओं को स्थान मिलने से पत्रिका संतुलित है। पत्रिका का पुरोवाक् इसके उद्देश्यों को स्पष्ट कर देता है–'साहित्य व्यक्ति और शेष प्रकृति तथा मनुष्य और ब्रह्माण्ड के रिश्तों की तलाश है।'' यह आचार्य द्विवेदी जी के साहित्य के लक्ष्यों की याद दिलाता है। पत्रिका में आलेखों की संख्या बढ़ाई जाए तो अच्छा रहेगा। सुसंभाव्य साहित्य में आए भटकाव को तलाश कर सही दिशा देने का कार्य कर रही है। जुलाई अंक हेतु मैंने पत्र और आलेख प्रेषित किये थे, किसी कारणवश सम्मिलित नहीं हो सका। पत्रिका के उत्तरोत्तर विकास की शुभकामनाओं के साथ!

–डॉ.अरुण कुमार वर्मा, रीवा (म.प्र.) मो0–9754128757

2. संपादकजी, सुसंभाव्य का अंक ई–मेल द्वारा मिला। भेजने के लिए बहुत धन्यवाद! संपादकीय में अंतर्राष्ट्रीय के हित में राष्ट्रीयता के त्याग की बात बहुत जँची। लगा यही बात पत्रिका की दिशा बता रही है।

कवि रामकुमार कृषक से डॉ. रविशंकर की भेंटवार्ता भी बहुत प्रभावित करती है। यह कृषकजी के व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों को दर्शाती है। कृषकजी अपनी कविता की दो पंक्तियों– 'आग बिना रोटी नहीं/अन्न के संग आग भी पैदा करें।' का खुलासा करते हुए बताते हैं कि 'किसान अन्न तो उगा रहा है दुनियाभर के लिए, पर वह स्वयं भूखा रह रहा है। कारण आग और अन्न के रिश्ते को उसने भुला दिया है। इस तरह वे किसान को अनाज पैदा कर हाथ–पर–हाथ धरे रहने को नहीं कहते हैं, बल्कि अपने शुभ की, अपने उत्पादन की रक्षा के लिए संघर्ष चेतना भी अपने–आपमें पैदा करने का संदेश देते हैं। यह कवि की प्रतिबद्धता को दर्शाती है।

नीलम कुलश्रेष्ठ की कहानी 'नाकाबंदी' आधुनिक युग में नारी चेतना में आये बदलाव को इंगित करती है। हरीराम मीणा के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' की डॉ. शिवप्रसाद शुक्ल द्वारा की गई समीक्षा भी बहुत सटीक है। प्रगति के नाम पर आदिवासी कैसे विस्थापित होते जा रहे हैं, वे बताते हैं कि इस उपन्यास की घटना जालियाँवाले बाग से भी काफी भयंकर थी, परन्तु इसे प्रकाश में नहीं लाया गया। मानगढ़ आदिवासी आंदोलन के 1500 आदिवासी शहीद हुए थे। यह बात रोंगटे खड़ी कर देनेवाली है। राजस्थान के आदिवासियों के जीवन–संघर्ष और उनके आंदोलन को अपने उपन्यास द्वारा प्रकाशन में लाने के लिए हरीराम मीणा सचमुच प्रशंसा के पात्र हैं। समीक्षा के साथ इतने महत्त्व के इस उपन्यास के प्रकाशक और वितरक का नाम पता नहीं देना खलता है।

इस तरह सुसंभाव्य के इस अंक का स्तर पिछले अंक की तुलना में और भी समृद्ध हुआ है। समृद्धि का यह ग्राफ इसी तरह उत्तरोत्तर ऊँचा उठता ही जाएगा, ऐसी आशा है। इस पत्रिका से भविष्य में बहुत ही संभावनाएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं।

एन.आर.श्याम, गौतमीनगर, आदिलाबाद (तेलंगाना), मो. 8179117800

3. परमादरणीय संपादक महोदय,

हिन्दी/भोजपुरी के लब्धप्रतिष्ठित साहित्यकार श्रीभगवती प्रसाद द्विवेदीजी के माध्यम से पत्रिका का जुलाई 2016 अंक मिला। पत्रिका में आलेख, समीक्षा, कहानी, गीत, कविता, रिपोर्ताज, संस्मरण, भेंटवार्ता आदि के रूप में उपस्थित संतुलित पाठ्य सामग्री आम और खास दोनों प्रकार के पाठकों को संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त है। पत्रिका में प्रकाशित 'पुरोवाक्' की कथनी ही पत्रिका की आत्मा प्रतीत होती है। कदाचित यही कारण होगा कि आपलोग पत्रिका को अनमोल बना पाने में सफल हो सके हैं। बधाई!

मनोरंजन सहाय सक्सेनाजी का रिपोर्ताज के रूप में प्रकाशित 'धर्मम् शरणं न गच्छामि' का नाटकीय घटनाक्रम उसे एक रिपोर्ताज के बजाय एक कहानी के रूप में अधिक स्थापित करता है। एक प्रखर कहानी। संस्मरण के रूप में प्रकाशित कृष्ण बिहारी मिश्रजी का 'मौन का सर्जनशील सौंदर्य' पत्रिका रूप अंगूठी में नगीना की भाँति सुशोभित है। निर्मल मिलिन्दजी की कविता 'शिनाख्त' अपने कथनीय को कहने में सफल रही है। पत्रिका में प्रकाशित सभी समीक्षाएँ विशेष रूप से सराहनीय और साहित्य हित में है। ऐसी साहित्यानुप्राणित मनोहारी पत्रिका के प्रकाशन के लिए संस्थापक एवं संपादन मंडल को कोटि–कोटि साधुवाद! पत्रिका से सदा ही सान्निध्य का आकांक्षी–

अशोक कुमारी तिवारी, सूर्यभानपुर, बलिया (यू.पी.), 9838112996

4. आदरणीय दयानन्द जायसवाल जी!

सुसंभाव्य का जुलाई अंक मिला, धन्यवाद! संपादकीय के द्वारा आप बेहद सहज रूप से अपनी बात को पाठकों तक पहुँचते हैं।

रिपोर्ताज़ के बहाने मनोरंजन सहाय सक्सेना 'धर्मं शरणं न गच्छामि के माध्यम से बहुत से पहलुओं को हमारे सामने रखते हैं।

डॉ. नलिनी श्रीवास्तव की कहानी अच्छी लगी।

शशिकला झा के गीत खासतौर पर 'हे कामिनी', डॉ. क्लनेश द्विवेदी की कविता एक चुटीले व्यंग्य से तथाकथित 'सम्मान' को उजागर करती है, कृष्ण कुमार यादव की 'पालिश' बहुत मार्मिक कविता है। डॉ. महाश्वेता चतुर्वेदी की कविताएँ बहुत प्रभावशाली हैं। डॉ. गिरिजाशंकर मोदी की भेंटवार्ता के माध्यम से हम एक बेहद समर्पित लेखिका और दलित वर्ग तक के कुछ खास पहलुओं से परिचित होते हैं। लेखक ने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए उनके लेखकीय दृष्टिकोण और दिशा को हमारे समक्ष रखा है। शुभकामनाएँ सहित।

–विज्ञानव्रत, एन 138, सेक्टर 25, नोएडा–201301

5. आदरणीय

आज से लगभग चार माह पूर्व मेरे घर के पते पर आपका भेजा हुआ सुसंभाव्य का अंक पहली बार प्राप्त हुआ था। लेकिन कहा जाता है कि नि:शुल्क प्राप्त होनेवाली चीज का मोल अक्सर ठीक नहीं लगाया जाता। मित्र सत्यप्रकाश भारतीयजी से मेरा पुस्तकों–पत्रिकाओं का मुक्तहस्त लेन–देन चलता रहता है। होनहार की बात मुझे लगा कि आपकी पत्रिका भी उनके हाथों मेरे घर आ गई होगी। वास्तव में मैंने उसे देखा नहीं था, लेकिन मित्र की साहित्यिक खेप के साथ ही उसे भी यह मानते हुए कहीं रख दिया कि अन्यों के साथ उसे भी देख लिया गया है।

एक दिन आफिस से लौटने पर जब पत्रिका का अगला अंक लिफाफे में रखा हुआ मिला तो कुछ अचंभा–सा हुआ। देखा कि वाकायदा घर के पते पर आपकी पत्रिका आयी थी और पहले पृष्ठ पर आपके हस्ताक्षर भी चमक रहे थे। मानना मुश्किल हो रहा था कि भला कोई मुझे पत्रिका क्यों भेजेगा, वह भी कोलकाता के बाहर से, जबकि कोलकाता में ही मैं कोई खास जाना–पहचाना नहीं हूँ। पर सच्चाई सामने थी। तब मुझे यह भी याद आया कि यही पत्रिका पहले भी एक बार घर में दिखी थी। कुछ ही दिनों पूर्व घर पर पिताजी ने भी ठप्पा लगाते हुए कहा कि यह पत्रिका देखनेलायक है। मैंने अपने आप को चेतावनी दी कि प्रथम बार की मूर्खता नहीं गिनी जाती। अब भी मेरे पास एक अवसर है।

आपकी पत्रिका मुझे हर दृष्टि से अब्बल लगी। मेरा कहने की तो क्या बिसात, आपको तो पूरे भारत से, बल्कि विश्व के कुछ हिस्सों से भी साधुवाद मिलता होगा। पुरोवाक् की धमक ही पत्रिका का वजन बता देती है। फिर यह भी अनुभव हुआ कि आपके पास जो लेखकीय समुदाय है, वह भी अच्छा खासा भगीरथ है। एक अच्छी पत्रिका को जो–जो चाहिए, वह सब है, बिल का भी कुछ न कुछ स्रोत तो होगा। मेरे दिमाग ने यही सारे कयास लगाये। आज की स्थिति यह है कि समय की सीमाओं के बीच आपके प्राप्त तीन अंक बड़ी श्रद्धा से देखे हैं और

कुछ अंश पढ़े हैं। मेरी कोई औकात नहीं कि आपसे आपके और आपके कार्यों के बारे में कुछ कहूँ। क्या छोटा, क्या बड़ा, किसी को शब्दों में नापना मुझे कभी मंजूर नहीं रहा। आप जो कर रहे हैं, उसका फल कहीं संचित अवश्य हो रहा है, इतना मुझे विश्वास है।

हमलोग एक साहित्यिक पत्रिका निकालते हैं, शायद आपको पता हो। इस पत्र के साथ आपको 'मरुतृण' नवीनतम पत्रिका के अंक की ई–प्रति भेज रहा हूँ। हमलोगों ने तो अभी चलना शुरू किया है। आप जैसे महानुभावों से जो भी सहयोग मिलेगा, वह सिर आँखों पर।

साहित्य पर बहुत–सी बातें कही–सुनी जाती हैं। उदय और अस्त के बीच बातों के बहुत से रंग और ऊष्माएँ हैं। मोह–माया और भ्रम भी हैं, कुटिलताएँ भी चल रही हैं। लेकिन साहित्य भी है ही, निंदा–स्तुति से परे एक सत्य, कई मायनों में उपेक्षित लेकिन अटल, सद्बुद्धि से स्थिरबुद्धि होने तक शायद आतुर और प्रतीक्षारत भी!

अमरदीप कुलश्रेष्ठ, दमदम, कोलकाता. मो. 9830847510

6. महोदय,

'सुसंभाव्य' देखने को मेरी प्रबल इच्छा थी। अक्टूबर, 2016 का अंक आपने भेजने की कृपा की, सुकृपा के लिए आभारी हूँ। किसी भी पत्रिका की महिमा संपादक के वैदुष्य और मनीषा पर अवलंबित होती है। अब तो अधिकतर पत्रिकाएँ व्यावसायिकता की सूली पर लटकी हुई दीखती हैं। आपकी संपादन–कला शिखर पर पहुँच चुकी है। पुरोवाक् में आपने पत्रिका का उद्देश्य और रचनाकारों से अपेक्षाओं, उम्मीदों का खुलासा भी किया है। इसके रचनाकारों से समाज के नवनिर्माण में नैसर्गिक सौंदर्य को तलाश कर सकारात्मक भूमिका निभाने का संदेश भी है। भावुकता में उन्हें बहने–बहकने की छूट नहीं। मैं आपसे सहमत हूँ कि साहित्यकारों का दायित्व व्यक्ति में सामाजिक, सांस्कारिक एवं तैजस्विक भावों की चैतन्यता को जाग्रत कर समाज का नवनिर्माण करना है। पर दूसरी ओर, समाज भी साहित्य को दिशा देता रहता है। समाज में साहित्य के किस रूप की और किन मूल्यों की स्वीकार्यता अधिक है, समाज किस तरह साहित्य को पढ़ रहा है, किस दिशा में ले जाने की कोशिश कर रहा है, इन सबकी थाह लेते रहना भी समकालीन साहित्यकारों का दायित्व हो जाता है। गाँधीजी का कहना था–'साहित्य और कला के सृजन का उद्देश्य केवल सृजन करना नहीं, बल्कि इसका मूल ध्येय मानव–कल्याण होना चाहिए।' निःसंदेह 'सुसंभाव्य' आम नागरिक जीवन को सँवारने व सुन्दर बनाने के प्रयास में अग्रसर है।

महाश्वेता देवी पर सपना मांगलिक का आलेख उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के चित्रण में सफल रहा है। भारतीय साहित्य में महाश्वेता देवी उन विरले रचनाकारों में हैं, जिनके सृजन और जीवन में कोई भेद नहीं रहा। रजनीश मेहता की कविता तो अंदर तक दिल को छू गई। डॉ. ओंकारनाथ चतुर्वेदी 'प्रणव' ने तो बचपन के शब्दचित्र का अंकर कुछ इस तरह किया है कि मेरा अपना बचपन युवा होते बेटे–बेटियों का बचपन चलचित्र की भाँति दिखने लगा। ग्राम्य जीवन पर आधारित कहानी 'सिसकते पहाड़' अच्छी लगी। शीर्षक के प्रतीकात्मक होने से इसकी विशिष्टता और बढ़ी है। कहानी 'लेकिन' नारी मनोविज्ञान का एक सशक्त एवं जीवन्त चित्रण है। कहानी संवेदना, मनोवैज्ञानिकता, यथार्थ, कड़वे सत्य और दृश्यात्मक के साथ ही बेहतरीन प्रवाह में है और अबाध ढंग से अपने को पढ़वा लेती है। सभी आलेख उच्च स्तरीय हैं। कविताएँ शिल्प और कथ्य के लिहाज से यथा ग़ज़ल नजाकत और नफासत के तौर पर बेहतरीन हैं। सामान्यतः मैं चुटकले पढ़कर या सुनकर भी नहीं मुस्करा पाता, लेकिन अशोक गौतम का व्यंग्य पढ़ते हुए मेरी मुस्कराहट का मुँह पूरी तरह खुल गया।

'सुसंभाव्य' के प्रकाशन से जुड़े सभी साहित्य–साधकों को नववर्ष की मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ। साथ ही, पत्रिका हिन्दी पत्रकारिता जगत में वैसे ही चमके, जैसे केंचुल उतारने के बाद साँप चमकता है।

नरेन्द्र किशोर सिन्हा, आदर्शनगर, समस्तीपुर मो.: 08969358434

7. आदरणीय,

'सुसंभाव्य' का अक्टूबर 2016 अंक प्राप्त हुआ। श्रेष्ठतम रचनाओं को अपने कलेवर में समेटे यह पत्रिका हर अंक के प्रकाशन के साथ साहित्य के क्षेत्र में उच्च शिखरों को छूने का मापदंड भी उठाती चली आ रही है। विश्वग्राम के सुधी पाठकवृंद एवं परिष्कृत साहित्य के प्रेमीजन मेरी ही भाँति इस पत्रिका केक हर नवल अंक के लिए उत्सुकता के साथ प्रतीक्षारत रहते होंगे, ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है। सृजन एवं समीक्षा के लिए प्रतिबद्ध यह पत्रिका निःसंदह विश्व की स्तरीय हिन्दी त्रैमासिक तो है ही, साथ ही साहित्य के प्रचार–प्रसार हेतु अथक प्रयासरत रहने के अलावा पत्रिका को आज से इस भौतिकवादी युग में भी पूर्णतः रखकर निरंतर प्रगति सोपानों की ओर अग्रसर करने प्रधान संपादक एवं संपादक द्वय के प्रयासों की जितनी भी प्रशंसा की जाए, कम होगी। साहित्य की सम्यक् विवेचना हेतु यह पत्रिका आलोचना एवं रचनाधर्म से जुड़े सभी साहित्य प्रेमियों के लिए सतत मार्गदर्शक बनी रहेगी। संपादक मंडल एवं संस्थापक को एक बार पुनः बधाई!

डॉ.अलका रानी अग्रवाल, एसोसिएट प्रोफेसर, चन्दौसी (उ.प्र.)
मो. 7599211764

8. संपादक 'सुसंभाव्य', भागलपुर
आदरणीय जयसवाल जी,
सादर प्रणाम,

'सुसंभाव्य' का अक्टूबर 2016 का अंक मिला। सबसे पहले अपने आलेख 'बंगाल विभाजन' को सुसंभाव्य में स्थान के लिए आपको धन्यवाद देना चाहूँगी। आभारी हूँ।

सपना मांगलिक का महाश्वेता देवी पर लिखा आलेख उनके लेखन से संबंधित अनेक जानकारियाँ दे गया। पंकज शुक्ला का लेख 'डॉ. भीमराव अंबेडकर का चिंतन' उनका तथ्यात्मक संक्षिप्त परिचय है। रणीराम गढ़वाली की ग्रामीण अंचल से जुड़ी कहानी 'सिसकते पहाड़' गजू के साहस और पुरानी व्यवस्था से विद्रोह की कहानी है, रोचक लगी। अमित चौबे की 'लेकिन' एक विवाहित महिला के दर्द और विद्रोह के शिद्दत से बयान करती है। सुसंभाव्य को मेरी शुभकामनाएँ। –डॉ. ऊषा निगम, कानपुर–मो. 9792733777

9. सेवा में श्रीमान संपादक, 'सुसंभाव्य'
सादर अभिवादन!

'सुसंभाव्य' का अक्टूबर 2016 अंक मिला, आभारी हूँ। अंक की सामग्री इस बात की गवाही दे रही है कि आपने इस त्रैमासिक सुरुचिपूर्ण और समृद्ध बनाने में अथक परिश्रम किया है। प्रायः पत्र–पत्रिकाओं में और अंतरजात पर सक्रिय लगभग सभी चर्चित नामचीन रचनाकार अपनी प्रतिनिधि रचनाओं के साथ उपस्थिति दर्ज करा रहे हैं। 'सुसंभाव्य' के मानवतापूर्ण उद्देश्य तो सार्वभौमिक है ही, अब इसका सामग्रीगत स्वरूप भी अखिल भारतीय हो गया। आप और आपकी पूरी संपादन–प्रबंधन टीम बधाई के पात्र हैं। साज सज्जा ही नहीं, अपने दृष्टिकोण एवं प्रस्तुति में भी 'सुसंभाव्य' मौलिक है।

अपने पुरोवाक् में आपने साहित्य के उद्देश्यों और साहित्यकार की मनोवैज्ञानिक स्थितियों का बखूबी आंकलन किया है। आपकी स्थापना इंसानी मूल्यों के संपोषण में साहित्य की भूमिका को रूपायित करती है। महाश्वेता देवी के प्रति श्रद्धांजलि स्वरूप सपना मांगलिक का आलेख एक जीवट और उद्देश्य परक कमलकार की प्रतिबद्धता का उजागर करता है। अपने बचपन को याद करते हुए डॉ. ओंकारनाथ चतुर्वेदी तब और अब में आये बदलावों का सफल कटाक्ष करते हैं। सचमुच इस विकास की आँधी ने हमसे बहुत कुछ छीन लिया है। भौतिकता में चैन सुकून और परिवार की खुशियाँ सब कुछ छिन गया है। वाकई सांस्कृतिक मूल्य संकट में है। ऊषा निगम के बंगाल विभाजन पर रोचक और ज्ञानवर्धक लेख लिखा है। हर आंदोलन और उसकी सफलता– असफलता भावी आंदोलनों के लिए एक सबक का काम करती है। पंकज शुक्ल का लेख, डॉ. अम्बेडकर की समरसतावादी सोच का विश्लेषण करता है। दुखद है कि बाबा साहब बाद के वर्षों में अपनी मूल धारणा सहित नहीं याद रखे गए। विचारों का राजनीति करण हो गया। हम किसी

युगपुरुष को खांचों में नहीं बाँध सकते। आज की राजनीति समग्रता में प्रदूषण के शिकार है।

रणीराम गढ़वाली की कहानी 'सिसकते पहाड़' सुंदर कथ्य शिल्प के बूते सशक्त बन पड़ी है, लेकिन 'में अमित चौबे मानवीय भावनाओं को समझने और समझाने में सफल रहे हैं। चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी और उनकी 'उसने कहा था' कहानी एक दूसरे के पर्याय हैं। गुलेरीजी चर्चा में हैं और उसने कहा था भी। डॉ. अरुण कुमार वर्मा का आलेख कहानी की सुंदर सटीक समीक्षा प्रस्तुत करता है। 'बर्थ डे पार्टी' कहानी आज के दौर के बच्चों के पालन पोषण के तौर तरीके पर सवाल उठाती है। हम अभिभावक ही उनके विचार निर्माण के जिम्मेदार हैं, अतः चेतना भी हमें ही होगा। बच्चों के हाथों में खिलौने के रूप में बंदूक देकर हम उनसे प्रेम भाव बढ़ने की अपेक्षा नहीं रख सकते। शायर डॉ. अनिरुद्ध सिन्हा ने कुसुमलता से बातचीत उपयोगी है। ऐसी पेशकश एक रचनाकार को समझने में सहायक होती है। अनिरुद्ध जी ने बड़े पते की बात कही है, आज रचनाकार पढ़ते नहीं, सिर्फ लिखते हैं और लेखन का प्रचार करते हैं। सोसल मीडिया भी इसके लिए कम उत्तरदायी नहीं। कम समय में हर कोई मंच पाना चाहता है। पत्र–पत्रिकाओं में जुगाड़ और जोड़तोड़ से भी साहित्य का नुकसान हुआ है। वाराणसी से प्रकाशित 'सोच विचार' के मनु शर्मा एकाग्र अंक पर डॉ. रामसुधार सिंह का आलेख ज्ञानवर्धक है। अंक में शामिल ग़ज़लें और कविताएँ भी पसंद आयीं। लोकवाणी में दर्जन भर पत्र उत्साहवर्धक हैं। एक समग्र संतुलित अंक के लिए हार्दिक बधाई सहित।

अभिनव अरुण, वरिष्ठ उद्घोषक, आकाशवाणी, वाराणसी
मो : 9415678748

10. संपादक महोदय,

सुसंभाव्य का अक्टूबर 2016 का अंक मिला। इसमें विविध विषयों से जुड़ी भरपूर सामग्री है। 'पुरोवाक्' में आपने व्यक्ति, उसकी चेतना तथा संस्कार के साथ सभ्यता की यात्रा को रेखांकित करते हुए सृजन के संदर्भ में साहित्य लेखन के स्वरूप पर चर्चा की है। अच्छा लगा। इस तरह आपने विमर्श का रास्ता बनाया है। वैसे भारतीय मनीषा का एक विचार यह भी है–

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पंचैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यै देहिनः।।

अर्थात् आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु–ये पाँचो ही गर्भ के स्थितिकाल में ही निश्चित कर दिये जाते हैं। अब इस सूत्र पर न जाकर मैं सिर्फ इतना कहना चाहता हूँ कि यहाँ आदमी के लिए कुछ करने की संभावना समाप्त हो जाती है; क्योंकि मान लिया गया है कि सब पूर्व निर्धारित है। जबकि आप व्यक्ति, उसकी चेतना और परिवेश को निर्माण के तत्व के रूप में मानते हैं। आपने 'पुरोवाक्' के आखिरी पैरे में 'सुसंभाव्य' का गन्तव्य और उद्देश्य बेहतर समाज के निर्माण का प्रयास बताया है, जो कि प्रशंसनीय है।

इस अंक में महाश्वेता देवी के संबंध में सपना मांगलिक के लेख में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर की गयी चर्चा अच्छी लगी। डॉ. ओंकारनाथ चतुर्वेदी 'प्रणव' अपने ललित निबंध 'मधुर याद बचपन तेरी' में एक ओर मधुर स्मृतियों को ताजा करते हैं, वहीं वर्तमान जीवन की विसंगतियों को उकेरने में कोई संकोच नहीं करते। डॉ. हीरालाल बाछोतिया के 'मानव मूल्य और साहित्य' लेख में आज के साहित्यकार मान्य मूल्यों एवं व्यावहारिक मूल्यों को अंतराल बढ़ने पर जो चिंता व्यक्त की गई है, वह स्वाभाविक है। डॉ. ऊषा निगम ने अपने लेख 'बंगाल विभाजन–1905 नवराष्ट्र और सशस्त्र आंदोलन' में इतिहास को खंगलाते हुए बड़ी बेबाकी से जिस क्रान्तिकारी आंदोलन की बढ़त दिखाई है, वह सच तो है परन्तु देश को आजादी महात्मा गाँधी के अहिंसक आंदोलन के रास्ते ही मिली, इस ऐतिहासिक सच्चाई को कौन नकार सकता है। पंकज शुक्ला के आलेख 'सामाजिक न्याय की अवधारणा और डॉ. भीमराव अंबेडकर का चिंतन' में उनके कार्य–व्यवहार की चर्चा की गई है। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के उत्थान के लिए सीधी और लम्बी लड़ाई लड़ी, जो कि कांशीराम से होती हुई मायावती तक आई और काफी बदलाव देखा गया। परन्तु इसमें महात्मा गांधी और कांग्रेस के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। महात्मा गाँधी ने दलितों के उद्धार का बीड़ा उठाया था और कांग्रेस ने डॉ. अम्बेडकर से संविधान की रचना कराई, जिसमें दलितों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई। दलितों के लिए महात्मा गांधी ने जो किया, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है, परन्तु आज के कतिपय दलित नेता डॉ. अम्बेडकर को तो स्वीकार करते, जबकि गाँधीजी की आलोचना करते हैं। उनको यह समझ में नहीं आता है कि महात्मा गाँधी समाज सुधार के साथ आजादी की लड़ाई भी लड़ रहे थे। उन्हें सबको साथ लेकर चलना था, जबकि डॉ. अम्बेडकर के सामने दलितोद्धार प्रमुख था। पटेल सीमा देवी सत्यनारायण ने 'डॉ. विवेकी राय के उपन्यासों में लोककथा' पर समीक्षात्मक आलेख प्रस्तुत किया है। ज्ञातव्य है कि डॉ. विवेकी राय का गत 22 नवम्बर, 2016 को निधन हो गया है। निश्चित रूप से डॉ. विवेकी राय लोकजीवन के मर्मज्ञ रचनाकार थे। इस लेख में उनके उपन्यासों में लोककथा के विविध शेड दिखाने का सराहनीय प्रयास किया गया है। भेंटवार्ता में ग़ज़लकार डॉ. अनिरुद्ध सिन्हा से कुसुमलता की बातचीत में ग़ज़ल की यात्रा के साथ उर्दू ग़ज़ल और हिन्दी ग़ज़ल की समानान्तर प्रस्तुति के तात्कालिक और दूरगामी परिणामों का आकलन किया गया है। इस अंक में शुद्ध साहित्यिक रचनाओं में कविताएँ, कहानियाँ, लघुकथाएँ, व्यंग्य के साथ पुस्तक चर्चा भी शामिल है, जिनसे वर्तमान लेखन की नब्ज का पता चलता है। विज्ञानव्रत की ग़ज़ल 'अपने मुँह पर ताले रखना, खुद को आज सँभाले रखना' और मंजुला उपाध्याय मंजुल की कविता 'रूह के करीब' ने मन को छुआ। साथ ही चंद्रधर शर्मा गुलेरी की चर्चित कहानी 'उसने कहा था' का पुनर्मूल्यांकन किया गया है। वास्तव में यह कहानी बेजोड़ है।–

भोलानाथ कुशवाहा, मिर्जापुर (उ.प्र.) मो.–09453764966

11. महोदय,

सुसंभाव्य का जुलाई 2016 अंक मिला, जिंदगी की दौड़ में पिछड़ जाने के भय ने निश्चित ही नाना प्रकार की विसंगतियों को जन्म दिया है, जीवन, व्यक्तित्व एवं साहित्य के लक्ष्य आदि से जुड़े अहम सवालों की पड़ताल आपने संपादकीय में की है। दलित चिंतक, सामाजिक कार्यकर्ता एवं लेखिका रमणिका गुप्ता जी से डॉ. गिरिजाशंकर मोदी जी की भेंटवार्ता अंक की उपलब्धि है। न केवल पचासी वर्ष की उम्र में भी उनकी सक्रियता हम सबके लिए प्रेरणास्पद है, बल्कि उनका सारा का सारा जीवन, उनके बिना किसी लाग–लपेट के व्यक्त किये गये विचारों की दृढ़ता हमें कुछ सिखाती है...। विविधता से सजे हुए सुसंभाव्य के इस अंक के लिए आप एवं आपकी पूरी टीम को बधाई एवं शुभकामनाएँ!

आपका शुभाकांक्षी
भास्कर चौधरी, बालको, कोरबा (छ.ग.)–495684

आदरणीय दयानन्द जायसवाल जी,
संस्थापक सुसम्भाव्य

नमस्कार,

सुसम्भाव्य का अक्टूबर अंक हस्तगत हुआ। ''संस्थापक की कलम से'' आप का पुरोवाक एक ज्ञानात्मक सारगर्भित आलेख पढ़ कर मन अभिभूत हा उठा। शहर में भीड़ का बढ़ना और इंसानियत का लुप्त हो जाना, तालों में बंद रिश्तों की चाबी गुम हो जाना, कुंठा, हाड, वासना की परतों का मानव जीवन को आछाच्दित कर लेना जैसी ज्वलंत समस्याएँ तो हैं ही। आज हमारा समाज गूंगा, बहरा, लूला–लंगड़ा हो गया है। ऐसे में साहित्यकार के लिए आज चुनौती भरा वक्त है।

इस अंक की सभी रचनाएँ स्तरीय तो हैं ही लेकिन, डॉ. अरूण कुमार वर्मा द्वारा की गई समीक्षा ''उसने कहा था सौ साल का सफर'' काफी रोचक लगा। गजलकार डॉ. अनिरूद्ध शर्मा से कुसुमलता सिंह की बातचीत काफी ज्ञान वर्धक लगी।

सेवा में,
संपादक महोदय!
मान्यवर,

सुसंभाव्य मासिक पत्रिका अक्टूबर 2016 का अंक प्राप्त हुआ। अपार प्रसन्नता हुई। सधन्यवाद! आपने इस पत्रिका के माध्यम से हम जैसे साहित्यिक रुचि रखनेवाले को पड़ाव दे रहे हैं। मेरे पास शब्द नहीं है, जिसके माध्यम से आपका शुक्रिया अदा करूँ। यह पत्रिका दिन दुनी, रात चौगुनी प्रगति करें, यही मेरी शुभकामना है।

इस पत्रिका से जुड़नेवाले सभी साहित्यिक प्रेमी को मेरा साधुवाद! इसकी सभी कहानियाँ, लघुकहानियाँ, कविता, ग़ज़ल एवं अन्य सभी सामग्री रोचक एवं प्रशंसनीय है।

'संस्थापक की कलम से' वाकई बेजोड़ है। सही में आपने लिखा है–'ऊपरवाले भी आज मानवीय नियति के प्रति जरा भी हमदर्द नहीं है, उनका फर्ज मात्र जन्म देकर नियत समय पर उठा लेना ही रह गया है। मैं भी यही सोचा करती थी, पर आज पढ़कर लगा यह सत्य है। महाश्वेता देवी की याद में जो लिखी गई है, वो मन को छू लिया है। साथ ही, उन्हीं पर आलेख पढ़कर गर्व भी हुआ और खोने का दुःख हुआ। सच में, वह एक महान लेखिका थी। सपना मांगलिक एवं रजनीश बाबा मेहता को बधाई!
–ज्योति सिन्हा, धनबाद, झारखंड, मो.–09102899404

प्रिय दयानन्दजी,
प्रणाम!

तारों भरी रात–सी आभामंडल में ब्रह्मांड की आकृति 'सुसंभाव्य' हिन्दी त्रैमासिक का कवर पृष्ठ ने अपनी अवधारणा में अंतरराष्ट्रीयता का बोध करा दिया अक्टूबर 2016 का अंक 6, सृजन एवं समीक्षा के लिए प्रतिबद्ध 'सुसंभाव्य' अपनी प्रतिबद्धता में प्रतिबद्ध है कि समय पर प्रकाशित होकर समय से पूर्व नेंउडींअलंण्बवउ पर आच्छादित हो जाती है तथा डाक से भी सबके दरवाजे पर दस्तक देकर अपनी संभाव्यता का संभव बोध भी करा देती है।

आमंत्रण में जिस घोष वाक्य की प्रस्तुति है कि 'सिर्फ इंसान बनें' सत्साहित्य का यही चरम है–'स्वयं का परिष्कार'। ऐसी चिंतना की संभाव्यता साहित्य का सौरमंडल निर्मित करे, ऐसी आशा की जाती है। पुरोवाक् की चिंता भी जायज है–'सहृदय की भावना से निजता का संबंध।' परन्तु विकास के इस दौर में भावना भस्म–सी उड़ती जा रही है, इसलिए परिवार पत्तों की तरह बिखरने लगा है। जरूरत है आदमी के पास आदमी होने की यथा–
मैं बसाना चाहता हूँ, स्वर्ग धरती पर। आदमी जिसमें रहे बस आदमी बनकर।

सम्पादक श्रीदयानन्द जायसवाल का आत्म इस तोष से भरा हुआ है, तभी उनमें साहित्य के सत् से मानवीय संभाव्यता भरने को चाहता है...!

साहित्य के विविधवर्णी आयाम से भरपूर सामग्री से पूरित पत्रिका अपने उद्देश्य में सफल है : कविता–कहानी, गीत, ग़ज़ल, आलेख, निबंध और समीक्षा की सर्जना से सुसज्जित सुसंभाव्य भविष्य की भवितव्यता निर्धारित करती है। 'पुस्तकचर्या' स्तम्भ में नवीनतम शैली में पुस्तकवार्ता से पुस्तक के प्रति पठनीयता तो बनती ही है, पुस्तकचर्या का परिवेश निवेशित होता है। यह समीक्षा से अलग की सर्जना है, जिसे 'सुसंभाव्य' ने अपने में अपनाया है।

भेंटवार्ता या साक्षात्कार पाठक और लेखक के बीच की दूरियाँ कम करता है और पाठक को लेखक का तथा लेखक को पाठक का सहोदर बना देता है। इससे निजता का संबंध विकसित होता है। 'सुसंभाव्य ने इसे भी अंगीकार किया है , यह एक अच्छी बात है। कविताओं के प्रकाशन में सम्पादक का कलात्मक सौंदर्य बोध झलकता है, क्योंकि कविता को आपने उनका धार दिया है, उनके आकार एवं प्रथर के अनुसार इससे कविता की पठनीय जीवंतता प्रसर होती है, प्रत्युष विहान के लिए! मंगलमय कामनाओं के साथ नूतन वर्ष की प्रतीक्षा में...।
डॉ.डी.एन. प्रसाद, प्राध्यापक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र) मो.–09420063304

आदरणीय सम्पादक जी,
सादर प्रणाम

शमीह शमीहे। आप द्वारा प्रेषित जुलाई व अक्टूबर अंक प्राप्त हुए, आभारी हूँ। पत्रिका अमूल्य है, ईश्वर आपकी ऊर्जा व संसाधनों को अक्षय रखें। जुलाई अंक में पुलित्जर पुरस्कार प्राप्त रीता डब की कविता के अनुवाद में भकोसना शब्द पढ़कर मन शीतल हुआ। 'धर्मं शरणं न गच्छामि' ने पांडेय बेचन शर्मा उग्र के उपन्यास 'बुधवा की बेटी' की याद दिला दिया। अक्टूबर अंक में डॉ. अनिरुद्ध सिन्हा से कुसुमलता सिंहजी का इंटरव्यू/भेंटवार्ता उल्लेखनीय है। परम्परा के पक्ष में खड़ी कई रचनाएँ अच्छी लगीं। बर्थ डे पार्टी और गुस्से का घोल लघुकथा के रचनाकारों को मैंने दूरभाषा पर बधाई दे दिया। सम्पादकीय कौशल प्रशंसनीय है।
शुभाकांक्षी
–सूर्य प्रकाश मिश्र, खोजवाँ, वाराणसी मो.–09839888743
पाठकीय प्रतिक्रिया

'सुसंभाव्य' अक्टूबर 2016 अंक डॉ. छोटेलाल बहरदार के सौजन्य से पढ़ा। छोटी काया में अच्छी पत्रिका, संतुलित और गंभीर संपादकीय पढ़कर आश्वस्त हुआ। सचमुच इंसान के खोल में आज शैतान विचर रहे हैं। मंदिर, मस्जिद, स्कूल–कॉलेज, रोड–रास्ते, मुहल्ले, हाट–बाजार, गाँव–समाज, राजनीति और यहाँ तक कि साहित्य का लबादा ओढ़े इंसान के मुखौटे में शैतान मिल जाएँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं रह गई है। आए दिन बहुत से संपादक रचनाओं की नकल, चोरी और भाड़े की रचनाओं को छापकर परेशान हो जाते हैं। उन्हें वास्तविक रचनाकार फोन लगाकर सवाल करते हैं। कुछ अयोग्य लोग अपने को नामीगिरामी बनवाने के लिए दूसरों से भाड़े पर लिखवाते हैं। यहाँ तक कि पाठकीय टिप्पणी भी दूसरों के लिखे समीक्षा जैसे दुरुह लेखन भी दूसरों से लिखवाकर अपने नाम से पत्रिकाओं में भेजते हैं। अनजान संपादक उसे प्रकाशित कर देते हैं। संपादक के पास कोई जासूस तो है नहीं, जो यह पता कर ले कि रचना किनकी है। कुछ संपादक हस्तलिखित रचना लेने से कतराते हैं। किन्तु यह सच है कि हस्तलिपि रचनाकारों की एक हद तक योग्यता बता सकती है। साहित्य के लिए यह एक गंभीर समस्या बनती जा रही है। चौर कर्म में संलिप्त लिखने और लिखवानेवाले दोनों साहित्य के गंभीर अपराधी माने जाएँगे। सुन्दर संपादकीय के लिए बधाई।

सपना मांगलिक का महाश्वेता देवी से संबंधित आलेख ज्ञानवर्द्धक है। वर्तमान क्लेशदायक समय को आईना दिखाती दिनेश तपन की ग़ज़ल, सामाजिक सरोकार से संपृक्त है। पसंद आई। डॉ. ओंकारनाथ चतुर्वेदी 'प्रणव' के वर्तमान बारूदी समय में स्वर्णिम अतीत के ध्वस्त होने की चिंता से सिक्त ललित निबंध एक बार पुनः संयुक्त परिवार और स्नेहपूर्ण विरासत की याद दिला गया। खैर, लेखक ही नहीं, एक अदना इंसान भी मानवीय मूल्यों के क्षरण को एक विडम्बना मानकर ही जीवन को ठेल रहा है। बचपन की याद दिलाने के लिए प्रणवजी को बधाई। डॉ. अनुराधा चंदेल 'ओस' की तीनों छोटी–छोटी किन्तु गंभीर कविताएँ ध्यान से पढ़ा।

हाँ, ओस जी प्रेम तो अब बटोहियों की बटमारी ही बनकर रह गई है। अप्सरा सिर्फ देवराज की सभा को ही आनंदित नहीं करती। फिर भी मिलन का संदेश आपकी कविता उम्मीद के साथ दे रही है। अच्छी कविता के लिए धन्यवाद।

डॉ. हीरालाल बाछोतिया का मानवीय मूल्यों के अपरदन एवं क्षरण से संबंधित आलेख ज्ञान–गंभीर और गहन चिंता का विषय है। वर्तमान पीढ़ी ऐश्वर्यवान होने की अथक दौड़ लगा रही है। बौद्धिकता और तार्किकता मार्मिकता पर हावी हो गई हैं। मानवता लहूलुहान हो गई है और तर्कशास्त्री अनाप–शनाप अपने मानव विरोधी सिद्धांत थोपे जा रहे हैं। सुख के अनन्त साधन मौजूद रहते भी शान्ति गायब है। अनीति और अन्याय को विकास का दर्जा देने में भी परहेज नहीं करते। आलेख बहुत पसंद आया। डॉ. उषा निगम का ऐतिहासिक आलेख 'बंगाल का विभाजन–1905' ज्ञानवर्द्धक है। सीमा असीम सक्सेना, कृष्ण कुमार यादव, महिमाश्री और डॉ. अश्विनी की कविताएँ मेरी पसंद की कविताओं में अग्रगण्य है।

पत्रिका की और भी कई गद्य रचनाएँ काबिले तारीफ हैं। पत्र लम्बा होने के डर से अधिक नहीं लिख रहा हूँ। प्रशंसनीय पत्रिका प्रकाशन के निमित्त संपादक मंडल को बधाई और साधुवाद! मंगलकामना के साथ।
–डॉ. सुवंश ठाकुर 'अकेला' पूर्णियाँ, मो.–09973264550

सुसंभाव्य
प्रिंटिंग प्रेस, भागलपुर

designed by : birjoo kumar, bgp # 9771512533